



नारायणीयम् का सांस्कृतिक अध्ययन
(A CULTURAL STUDY OF NĀRĀYANĪYAM)

‘अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की एम० फिल० उपाधि
के लिए प्रस्तुत’

लघु शोध-प्रबन्ध

1987

निर्देशक :

डा० एस्० पी० सिंह

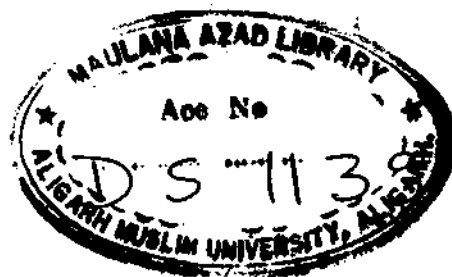
प्रशोत्री :

मिथि

संस्कृत विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़



CHECKED-2002
[Signature]



DS1139

प्राक्कथन

किसी ग्रन्थ के सांस्कृतिक अध्ययन के माध्यम से तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का दर्शन होता है। प्लसस्वस्म नारायणीयम् के सांस्कृतिक अध्ययन से पूर्व इन दोनों के स्वस्म पर एक दृष्टि डालना उचित होगा।

सभ्यता एवं संस्कृति में भेद स्पष्ट है। एक जितनी बाह्य है दूसरी उतनी ही आन्तरिक। सभ्यता का आकलन व्यक्ति के बाह्य गुणों यथा वेषभूषा, व्यवहार, शिक्षा आदि से होता है जबकि संस्कृति नितान्त आन्तरिक है। संस्कृति का आधार शुद्धा संस्कार है। इसीलिए शास्त्रों में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सौलह संस्कारों का विधान है। इनके माध्यम से व्यक्ति की बेलना पवित्र होती है। विचारों में स्पर्ध, वैराद्वय, औदात्य आदि गुणों के समावेश से उसकी आत्मा एवं बुद्धि दोनों स्वार्थ से परे हो जाती है। प्लसस्वस्म में धार्मिक आस्था, कलाओं के अनुचिन्तन, परीपकार तथा दार्शनिक चिन्तन से एक उत्कृष्ट संस्कृति विकासोन्मुख होती है। मल्ली से मल्ली सभ्यतायें नष्ट हो जाती हैं और उनका पुनः उदय नहीं होता किन्तु नष्ट संस्कृति यदि बीज स्म में भी विद्यमान हो तो वह कालान्तर में विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सकती है। इसीलिए संस्कृति का जीवित रहना सभ्यता के अवशिष्ट रहने से अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभ्यता एवं संस्कृति नितान्त पृथक् हैं।

सभ्यता यदि शरीर है तो संस्कृति शरीरी। शरीर के माध्यम से शरीरी का ज्ञान सम्भव है। परन्तु यदि शरीरी का ज्ञान हो तो शरीर को समझने के लिए एक विशद मानसिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा या सिन्धुघाटी की सभ्यता से इतिहास बात होता है किन्तु वेदों के माध्यम से आत्मसंस्कार की दिशा मिलती है। वस्तुतः हमारे प्राचीन ग्रन्थ एक प्रकार के सांस्कृतिक अवशेष ही हैं। इस प्रकार के अवशेष तत्कालीन सभ्यता के उत्कर्ष के परिचायक हैं। इनके सूक्ष्म

अध्ययन से उस संस्कृति का बोधा होता है जिसके कारण इन सभ्यताओं का विकास हुआ। महाभारत भी इसी श्रेणी में आता है। इसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है मानो तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता के चित्रण के लिए किसी चित्रकार ने एक विशाल पलक का प्रयोग किया हो। महाभारत कालीन अवशेष अब प्रायः अप्राप्त हैं। प्रयाग के समीप कौरावम्बी में जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे महाभारत से परवर्ती हैं। इस स्थिति में तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता के परिवर्ण का प्रमुखा स्त्रोत महाभारत ही रह जाता है। यद्यपि महाभारत आधुनिक अर्थ में एक इतिहास के रूप में स्वीकृत नहीं है फिर भी उसके रचनाकाल से ही उसे अर्धविशेष में इतिहास माना गया है। उसमें वर्णित सभ्यता कल्पना से अतिरञ्जित हो सकती है। किन्तु युगदृष्टा साहित्यकार ने अपने युग की सांस्कृतिक चेतना को अवश्य प्रतिबिम्बित किया होगा यदि ऐसी रूप आशा करें तो अनुचित नहीं होगा। व्यास में कल्पना की अतिरञ्जना अवश्य है किन्तु उसके परोक्ष में एक वास्तविक सजग दृष्टि भी निहित है। इसीलिए महाभारत में तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना विशद रूप में उपस्थापित है।

महाभारत के सम्पन्न अध्ययन से तत्कालीन संस्कृति का यथार्थतथ्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस दृष्टि से समग्र ग्रन्थ के अध्ययन के लिए एक सम्पूर्ण जीवन भी अपर्याप्त है। अथवा कम से कम अनेक व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास की अपेक्षा रहता है। अतएव एक निश्चित अवधि के भीतर एकाकी रूप में नारायणीयम् में निहित सम्पत्ति के अवलोकन से 'स्थालीपुत्राकन्याय' के द्वारा तत्कालीन समग्र संस्कृति का दर्शन सम्भव है। यही इस आशिक अध्ययन का औचित्य समझा जा सकता है।

नारायणीयम् के लिए पूना संस्करण में 'नरनारायणीयम्' अभिधान का प्रयोग किया गया है। कई विद्वानों ने इसे नारायणीयम् अथवा नारायणीयोपाख्यान भी कहा है। स्वयं महाभारत में इसे नारायणीयम् ही कहा गया है।

महाभारत में बारों पुरुषार्थों का वर्णन विस्तार से हुआ है। मोक्ष के उपदेश के लिए सम्पूर्ण शान्ति पर्व ही निर्धारित है। यहाँ विभिन्न वास्तविक दर्शनों के साथ-साथ नास्तिक दर्शनों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। नारायणीयम् में पाञ्चरात्र जैसे एक अमानव सम्प्रदाय का प्रतिपादन हुआ है। विद्वानों की दृष्टि इस पर गई तो है परन्तु प्रायः स्थूल रूप में ही। फलस्वरूप उनका अध्ययन उतनी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ नहीं हुआ है जितनी अपेक्षित थी। पाञ्चरात्र दर्शन के मूल को समझने में श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त की पुस्तक 'इण्डियन फिलोसफी' (भाग 2 तथा 3) से अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है क्योंकि उनका विवेचन लघुकाय होते हुए भी समग्र विषय को एकत्र देखने का एक स्तुत्य प्रयास है। इसी प्रकार शैव सम्प्रदाय के लिए डा० यदुवंशी की पुस्तक 'शैवमत' बहुत कुछ उपयोगी है।

वास्तवः भारतीय संस्कृति के वास्तविक वाहक वे ऋषि हैं जिन्होंने स्वयं को सांसारिक भाँगों से निस्पृह रखाकर परमार्थ ज्ञान पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी। हमारी संस्कृति ऋषि-परम्पराओं में जीवित है। इसीलिए हमारे सभी प्राचीन ग्रन्थों के रचयिता ऋषि के साथ-साथ विशुद्धचेता ऋषि भी रहे हैं। फलतः जब किसी संस्कृतग्रन्थ का सांस्कृतिक अध्ययन प्रारम्भ किया जाय तो उसका आध्यात्मिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है।

यहाँ एक ओर जहाँ अनेकानेक पौराणिक आख्यानो के माध्यम से विषय को विस्तृत कलेवर प्रदान किया गया है वहीं कुछ रत्नक ऋग्वेद के पुरुष सूक्त एवं नासदीय सूक्त से अत्यधिक साम्य रखाते हैं। यह प्रसङ्ग इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का आधार वेद है। वह अवैदिक नहीं है जैसा कि कुछ विद्वानों ने कहने का प्रयास किया है। पाञ्चरात्र पर सम्भावतः प्रधान ग्रन्थ होने के कारण यहाँ मूर्तिपूजा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है परन्तु वासुदेव का स्मरण यहाँ बाँधी मूर्ति के रूप

में किया गया है। पाञ्चरात्रिकों के आराध्य नारायण हैं। विष्णु के तद्रूप होने के कारण नारायण के दशावतारों का यही वर्णन आया है। परन्तु इन दशावतारों में हयशिरावतार का उल्लेख सर्वथा नवीन है। दूसरी ओर इनमें बुद्धा का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि नारायणीयम् या तो बुद्धा से पूर्ववर्ती है या समकालीन जबकि विष्णु के अवतारों में बुद्धा का भी एक स्थान है।

मोक्ष पर्व का एक अंश होने पर भी नारायणीयम् में मात्र ज्ञयात्म ही नहीं है प्रत्युत यही वर्णाश्रम व्यवस्था, सामाजिक शिष्टाचार आदि कतिपय सांस्कृतिक तत्त्वों का भी आनुष्णगिक उल्लेख है। शास्त्रों का उल्लेख यह प्रदर्शित करता है कि जनसामान्य लोह, ताम्र आदि धातुओं से परिचित रहा होगा। इसी प्रकार बहुमुख्य रत्नों के विषय में प्राप्त विवरण पर एक सम्भावना यह भी प्रकट की जा सकती है कि सम्पन्न व्यक्ति इन्हें धारण करने में पर्याप्त रुचि रखते होंगे।

यही बहुत से ऐतिहासिक स्थलों का भी वर्णन है। ये स्थान अब भी वास्तविक भौगोलिक सत्ता रखते हैं। अतएव यह कल्पना सहज हो जाती है कि ये सभी स्थान किसी न किसी रूप में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय से सम्बद्धा रहे होंगे। परन्तु वहीं श्वेतद्वीप, वैजयन्त पर्वत आदि काल्पनिक स्थान हैं एवं इनका वर्णन केवल पाञ्चरात्र की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए हुआ है।

और अन्त में इस लघु शोध-प्रबन्ध की पूर्णता के अवसर पर, देव यदि सहायक हों तो महान् दुर्योगों में भी कार्य पूर्ण हो जाता है। माता-पिता के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना कृत्यवत्ता ही है। फिर भी यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि बिना उनके अपूर्व योगदान के मेरे सभी कार्य अपूर्ण ही रह जायें। इस द्वाण अपने जीवन के प्रथम संस्कृत गुरु पण्डित

श्री कलादत्त मिश्र को विस्मृत करना अनुचित ही होगा क्योंकि उन्होंने ही विज्ञान की छात्रा होने पर भी मेरी साहित्यिक रुचियों को संस्कृत में एक दिशा दी। शोध निदेशक प्रो. श्री सत्यप्रकाश सिंह जी के विषय में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसे गुरु विरल ही हैं। उनका निर्देशन सम्भावतः मेरे पूर्वजन्म के सत्कर्मों का फल है। उनकी स्नेहपूर्ण सत्सङ्गति में मैंने जितना कुछ सीखा वह अवर्णनीय है। मैं डा० श्री अजय सिंह जी (हिन्दी विभाग) की भी आभारी हूँ जिन्होंने गरिमापूर्ण सहार्द से मेरी समस्याएँ सुनवाईं। इसके अतिरिक्त मैं अपने उन मित्रों की भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने बहुमूल्य तार्किक परामर्शों से मेरे चिन्तन को सूक्ष्म करने में सहायता प्रदान की।

इति

निधि

....

नारायणीयम् का सांस्कृतिक अध्ययन

=====

1. नारायण =====

7-23

- क. 'नारायण' की व्युत्पत्ति ।
- ख. नारायण का स्वस्थ ।
- ग. हरिमेधत् ।
- घ. बुद्धि स्थ में नारायण ।
- ङ०. नारायण का निवास ।
- च. नरनारायण ।
- छ. उत्पत्ति ।
- ज. ऋषि एवं देवता का तादात्म्य ।
- झ. नर तथा नारायण में परस्पर सम्बन्ध ।
- ट. नर तथा नारायण का स्थूल स्थ ।

2. अवतार की कल्पना =====

7-23-32

- क. अवतार की आवश्यकता ।
- ख. नारायण के अवतार ।
- ग. अवतार कथार्ये ।
- घ. हयगिरावतार की कथा ।
- ङ०. हयगिरा का भौतिक स्थ ।
- च. वैदिक आठयान ।
- छ. अन्य अवतार ।

3. पांचरात्र तन्त्रमुदाय
=====

288-29

क. पांचरात्र

- I. गीता से अर्वाचीन ।
 - II. पांचरात्र का मूल ।
 - III. पांचरात्र दर्शन का मूल ।
 - IV. पांचरात्र का नामकरण ।
- ख. नारायणीयम् में प्रतिपादित पांचरात्र धर्म तथा दर्शन ।
- I. पांचरात्र शास्त्र ।
 - II. पांचरात्र धर्म ।
- ग. ? सृष्टि
- I. पौराणिक आख्यान ।
 - II. चतुर्व्यूह सिद्धान्त ।
 - III. सृष्टि प्रक्रिया ।
- घ. पांचरात्र दर्शन की विशेषताएँ
- I. अद्वैतवादी ।
 - II. पांचरात्र दर्शन के पचीस तत्त्व ।
- ड०. पांचरात्र माहात्म्य ।

4. शैवमत
=====

290-30

- क. दशक आख्यान ।
- ख. विभिन्न पर्वों में उल्लिखित दशक आख्यान ।
- ग. त्रिदेवों का स्वीकरण तथा विष्णु की श्रेष्ठता ।
- घ. नारायणीयम् में प्रयुक्त स्तुति के अन्य नाम ।

5. धार्मिक कृत्य
=====

- क. यज्ञ ।
- ख. अवशेष यज्ञ ।
- ग. अस्य यज्ञ ।
- घ. वैदिक परम्परा ।
- ड०. यज्ञीय हिंसा के विरोध का कारण ।
- च. पितृकर्म ।

6. श्री रा गि क आठ्या न
=====

- क. त्वाष्ट्र की कथा ।
- ख. अन्य कथार्ये ।
- ग. राजा उपरिचर वहु की कथा ।
- घ. नारायण ते तम्बद अन्य आठयान ।

7. ना रा य णी य म् में वर्णित त्या न-- उनकी भौगोलिक स्थिति
तथा ऐतिहासिक महत्त्व
=====

- क. श्वेतद्वीप ।
 - i. श्वेतद्वीप निवासी ।
 - ii. श्वेतद्वीप : एक आध्यात्मिक स्थिति ।
- ख. बदरिकाश्रम ।
 - i. बदरिकाश्रम की महाभारतकालीन भौगोलिक स्थिति ।
 - ii. वर्तमान भौगोलिक स्थिति ।
- ग. गन्धमादन पर्वत ।

- घ. मसुरा ।
 ड०. दारका ।
 च. प्राग्ज्योतिष्पुर ।
 छ. वैराज सदन ।
 ज. वैजयन्त बर्चस ।
 झ. हिमालय बर्चस ।

88. ना रा य नी य म् में प्रकीर्ण वस्तुओं के उत्पत्ति
 =====

103-10

- क. मणि और धातु ।
 ख. अस्त्र ।
 ग. नारायणीयस के समय में प्रचलित ग्रन्थ ।
 घ. नारायणीयस के काल तक प्रचलित दार्शनिक मत ।
 ड०. नासदीय सूक्त से साम्य ।
 घ. व्याकरण के आरंभ प्रयोग ।
 छ. कर्मात्रम व्यवस्था ।
 ज. सामाजिक श्रिष्टाचार ।

वायरात्रिकों के आराध्यदेव नारायण हैं । नारायण को ही अव्यक्त ब्रह्म पुंस्व, केन्द्र आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है । पुंस्व स्व में नारायण का पर्यन्त शब्द के पुंस्व से अत्यधिक साम्य रहता है ।

“नारायण” की व्युत्पत्ति:-

नारायणीयसु में ‘नारायण’ शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कृष्ण ने कहा है कि “ मैं एकमात्र तन्मात्र पुंस्व तथा नरों का निवास स्थान हूँ । जब नर के पुत्र हैं इसीलिए नार कहलाते हैं । सृष्टि से पूर्व मेरा निवास-स्थान वे ही जल थे । इसीलिए मैं नार कहलाता हूँ ।”¹ यहाँ नर से तात्पर्य उस तन्मात्र आत्पुंस्व से है जो तन्मात्र स्थूल एवं सूक्ष्म पुरुष का उत्पत्ति-स्थान है । जब भी उन्होंने का अंश होने से नरपुत्र कहलाते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्ततः नर तथा नारायण एक ही हैं । यहाँ जल सृष्टिवाचक है । नारायण सृष्टि के आद्यन्त माने गये हैं । अयम निवास को कहते हैं । यह वह स्थान है जहाँ से कोई वस्तु जलना प्रारम्भ करके पुनः वहीं लौट आती है । इसी प्रकार सृष्टि अनेकानेक स्थानों में नारायण से उत्पन्न होकर अन्ततः उन्हीं में समाविष्ट हो जाती है । ‘नारायण’ शब्द के लिए यही व्युत्पत्ति ‘मनुस्मृति’ में भी दी गई है ।² महाभारत के वायव्ये पर्व में भी नारायण को नरों का आश्रयस्थान कहा गया है ।

श्री भण्डारकर के अनुसार, ‘नारायण’ शब्द ‘नाडायन’ जैता है । यह पाणिनि सूत्र, 4.1.99 से व्युत्पन्न है तथा इसका अर्थ ‘नाडायन’ गोत्र है । यहाँ कइ प्रत्यय अर्धान्वित है । नाडायन का अर्थ है -- नाड या नडों का समूह । अतएव नार या नरों के समूह का आश्रय ही नारायण है । नारायणीयसु में भी कृष्ण ने स्वयं को मनुष्यों का निवास-स्थान बताया है । नु या नर शब्द का प्रयोग वेदों में विशेषतः वीर के अर्थ में देवों के लिए होता है । अतएव नारायण का अर्थ देवों का आश्रय भी हो सकता है । एक अन्य परम्परा के अनुसार नारायण का सम्बन्ध अय जल से है । मनुस्मृति के अनुसार जल ब्रह्मा का तथा नारायणीयसु के अनुसार हरि का

1- नारायणायनं जयातमहेकः तन्मात्रनः ।

आषो नारा इति प्रोक्ता आषो वै नरतुल्यः ।

अयं मम तत्पूर्वमासी नारायणी इत्यस्य ॥ महा०, १२.३२८.३५.

2- मनुस्मृति, १.१०.

आग्रय था । आः ब्रह्मा तथा हरि नारायण कहलाये ।¹ इस तन्त्र में श्री भंडारकर ने वनस्पति में प्राप्त एक अल्प कृपा का उल्लेख किया है जिसमें जगत् के प्रलय का वर्णन है । तबत्र जल ही जल था । जल के ऊपर स्थलीय वृक्ष की शाखा पर एक बालक शयन कर रहा था । उसने मुँह झोलाकर मार्कंडेय को अपने भीतर डींच लिया । मार्कंडेय बालक के शरीर के भीतर समस्त जगत् का दर्शन करके आश्चर्यचकित हो गये । तदनन्तर बालक ने मार्कंडेय को उगल दिया । बाहर तबत्र जल था । मार्कंडेय ने उस बालक से प्रश्न किया कि 'आय कौन हैं' । उसने उत्तर दिया कि पहले उसने जल को 'नाराः' नाम दिया । वे जल ही उसके अग्रज थे । इसीलिए वह नारायण है । इसी प्रसंग में आगे मार्कंडेय ने युधिष्ठिर से कहा कि आपके तन्त्रबन्धी जनादेन ही नारायण हैं । नारायण और वासुदेव का एक तादात्म्य ही नारायणीय छन्द का तार है ।²

नारायण की जी व्युत्पत्ति स्मृत्युक्ति तथा महाभारत में दी गई है उसका मूल ऋग्वेद में प्राप्त अब सूक्त के दो मन्त्र प्रतीत होते हैं । वहाँ कहा गया है कि "पुनोक्त के परे, इस वृक्ष की के परे और दिव्य शक्तियों के परे वह कौन ता प्रथम गरी है जिसे जलों ने धारण किया था तथा जहाँ सभी देवता एक दूसरे को सम्भाव से देखी हैं ।"³ अगले मन्त्र में मानों इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि "उसी प्रथम गरी को जलों ने धारण किया था जहाँ सभी देवता सम्भाव से गये थे । अजन्मा की नाभि में एक अर्धित था जिसके अन्तर्गत सभी भुवन स्थित थे ।"⁴

नारायणीय के प्रारम्भ में ही युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि किस देवता की आराधना से सभी को मुक्ति मिलती है, किसी की पूजा से

- 1- आर० जी० भंडारकर, वैष्णव, शैव और अल्प धार्मिक सा, पृ०-३५ .
- 2- वही, पृ०- ३७ .
- 3- वही दिया वर एना वृक्षिया वही देविभिरुदेति ।
कं त्विदानीं प्रथमं द्रु आचो यं देवाः तमग्रयन्त विप्रये ॥ ऋग्वेद, 10.82.5.
- 4- त्विदानीं प्रथमं द्रु आचो यं देवाः तमग्रयन्त विप्रये ।
अवत्य नाभाक केमर्धितं यस्मिन्विप्रयोनि भुवनानि तस्युः ॥ वही, 10.82.6.

अनापूर्तिवत्त्वक त्वर्ग की प्राप्ति होनी; कौन देवताओं का भी देवता तथा पितरों का भी पिता है एवं इतने भी श्रेष्ठ कौन है।

वदरिकाग्रम में नर तथा नारायण की धीर तपस्या में रत देखकर नारद ने आश्चर्य प्रकट किया कि कैसे एक ही मूर्ति चार भागों में विभक्त हो गई है।² तानोबानि वेदों तथा पुराणों में नारायण की ही अज, आशक्त, धाता तथा अनुत्तम अमृत कहा गया है। वे चारों आग्रमों में पूज्य, जगत के माता-पिता एवं गुरु हैं। नरनारायण पितर स्व में पितृकी पूजा करते हैं, वह नारायण इन दोनों की योगि, त्रिगुणातीत पुरुष है। इन्द्रायाम ते दूयमान वे ही मुक्त जनों की मति हैं। यह अच्युत पुरुष ही च्युत प्रकृति के स्व में श्वेतादीय में दिखाई पड़ता है।

नारायणीय्य में नारायण के लिए 'सात्त्वतधर्मोपता'³ विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह विशेषण इत तत्त्व का सूचक है कि नारायण ने ही पाँचरात्र धर्म का प्रारम्भ हुआ था। उन्हीं की कृपा से ब्रह्मा तथा ब्रौह्म ते रुद्र की उत्पत्ति कही गई है। श्वेतादीय में नारायण की आषा कविता हजारों तुर्य की कान्ति के समान प्रकट होती है। उनके दर्शन के लिए धीर तपस्या करनी पड़ती है। इसीलिए पुत्रायति के पुत्र भी उन्हीं देखने में असमर्थ रहे थे। अपने शासकाल में राजा उपरिष्ठा वतु नारायण की आराधना प्रयकाल में कु बंधकों से करते थे।⁴ इस प्रतीक से यह स्पष्ट है कि नारायण की पूजा पाँचरात्र विधि से ही की जाती थी। श्वेतादीय में नारायण की पुतप्प करने के लिए नारद ने 'महापुरुषसूक्त'⁵ किया था। यहाँ नारायण के लिए किन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनमें से प्रमुख हैं-- बंधकधर, बंधकान्तरुमति, बंधरात्रिक, हयगिरि, केम्बापाय, बंधमहाकम्प, हरिहय, हरिमेघ, पितृशिकुण्डी आदि।

1- महा०, 12.321.3, 4.

2- वही, 12.321.16.

3- वही, 12.322.5.

4- वही, 12.324.48.

5- वही, 12.325.

नारायण का तत्त्व :-

भस्मान् नारायण त्वत्पतः चन्द्रमा ते भी अधिक विभु सर्व
अग्नि के समान तेजस्वी थे । वे नक्ष के समान उज्ज्वल थे । उत तक्ष्मातयोगी प्रभु
की कान्ति विविधवर्णी थी । वे सुखान्न, तृणिक, त्वर्ण, पुष्यार्ण, वेदार्ण, नीलवेदार्ण,
हृन्दीन, मयूरीया तथा मुक्ताहार के तद्वत् कान्तिमान् थे । वे हजार अङ्गों, तिर,
पैर तथा भुजाओं वाले थे । नारायण अपने मुख से ओंकार सर्व तावित्री मन्त्र का
उच्चारण तथा अन्य मुक्तों से चारों वेदों और आरण्यक मन्त्रों का जाप कर रहे
थे । उन्होंने द्वापरी में वेदी, कम्पडन, दर्भ, मणि, अजिन, दण्डकाष्ठ तथा पुण्यनिता
अग्नि को धारण किया था ।¹ इन्द्राक्षों ने दक्षिणीय को बचीतर्षा तत्त्व पुत्र्य है
वही तमातम परमात्मा वातुदेव है ।² वे सुभासुभ कर्मा में तिष्ठन नहीं होते । वे
निर्गुण भी हैं तथा कुभीनी भी ।³ नारायण ही करताई, कार्य एवं कारण हैं । वे
ही जीव हैं तथा उन्हीं में जीव की स्थिति भी है । विरज्यर्ग्य जगुर्मुक्त ब्रह्मा
भी उन्हीं का ध्यान करते हैं ।⁴

नारायण के दक्षिण भाग में ग्यारह स्तू, वाम भाग में बारह
आदित्य, ताम्बे आठ वस्तु तथा पीछे अश्विनीकुमार हैं ।⁵ तमस्त विश्व उन्हीं में
अवस्थित है । पश्चिमीरतर तमुद्र में उन्होंने हयगिरा होकर हय-हय का पान
किया था । कल्प के प्रारम्भ में नारद का जन्म नारायणमुत्र के स्थ में हुआ था ।⁶
प्रत्येक तृष्टि के समय पीछी मूर्ति वातुदेवः हैं तंक्ष्म, तंक्ष्म से वृषुम्न तथा
वृषुम्न से अनिन्द की उत्पत्ति होती है । वातुदेव अथवा नारायण त्रिमुक्तातीत
माने गये हैं । वे तत्त्व, रज तथा तम तीनों गुणों से परे हैं । व्यूहवाट में
अनिन्द को कहीं-कहीं ब्रह्मा कहा गया है । तृष्टि रचना करने के कारण उनमें
क्रियाशीलता है । आश्व वे रजोगुण के दिव्यीकृत स्थ माने जा सकते हैं । तृष्टि
का विनाश करने के कारण त्रि तमोगुण का दिव्यीकृत स्थ हो सकते हैं । इसी

1- भट्ट 0, 12.326.2-9.

2- वही, 12.326.23.

3- वही, 12.326.27.

4- वही, 12.326.47.

5- वही, 12.326.48.

6- वही, 12.326.58.

प्रकार विष्णु में तत्त्वगुण का आधिक्य है । यदि शिव तथा विष्णु को चारों
 ओरों में ब्रह्मा: संकीर्ण तथा प्रपुष्प मान लिया जाय तो वासुदेव को त्रिदेवों से
 भी उच्चतर स्वीकार किया जा सकता है । एक दूसरी व्याख्या यहाँ यह हो
 सकती है कि प्रत्यक्ष संसार की रचना करने के कारण ब्रह्मा वायु अवस्था में
 रहते हैं । क्षीरसागर में योगनिद्रा में शयन करने के कारण विष्णु स्वप्नावस्था
 का प्रतिनिधित्व करते हैं । शिव की अवस्था तुष्टि की है क्योंकि वे सदैव
 समाधिस्थ रहते हैं । इन तीनों से परे तुरीय ऐतन्य की अवस्था ही वासुदेव हैं ।
 इस प्रकार चारों, अवस्थाओं तथा गुणों तीनों दृष्टियों से वासुदेव सदैव यतु
 दशा में वर्तमान रहते हैं ।

नारायणीयसु में ही नारायण के विभिन्न अवतारों का
 विस्तार से उल्लेख किया गया है । एक स्थल पर नारायण ने कहा है कि उनके
 जो अवतार बीत चुके हैं उनका वर्णन पुराणों में ही हुआ है ।¹ इसी यह सम्भावना
 व्यक्त की जा सकती है कि नारायणीयसु के काल तक कुछ पुराणों की रचना हो
 चुकी थी ।

नारायण के दर्शनार्थ की गई तत्त्वा 'महाभियम' कहलाती
 है ।² वे आदित्यकी तथा तमोजुल्लसित हैं । उनकी ही आज्ञा से ब्रह्मा सृष्टि-
 प्रबंध करता है । ब्रह्मा ने नारायण के अवशिष्ट स्व का दर्शन किया था जिसने
 कमल तथा त्रिलोक धारण कर रहा था और वे तार्किक वेदों का उच्चारण कर रहे
 थे । वे ही ब्रह्माओं का आदि, मध्य तथा अन्त हैं । नारायणीयसु के अनुसार
 'नमो भगवते' कहकर उच्चारण करने वाला व्यक्ति अभीष्ट वस्तु प्राप्त करता है ।

यहाँ कृष्ण ने अर्जुन को अपने विभिन्न नामों की मिलित
 बताई है । इनमें कुछ नाम गुणों के अनुसार हैं तथा कुछ कर्मों के अनुसार । पहले से
 ही अर्जुन कृष्ण के आदि कहलाते हैं ।⁴ स्मृ भी नारायणत्व ही हैं ।⁵ नारायण

1- महा०, 12.326.95.

2- वही, 12.327.40, 41.

3- वही, 12.327.81.

4- वही, 12.328.10.

5- वही, 12.328.19.

निष्कृतिरहित तथा आभ्युदयिक धर्म की जानेमाने कहे गये हैं । इसी क्रम में नारायण पद की भी निरूपित प्राप्त होती है । तृतीय के समान समस्त विषय की अपनी क्रियाओं से आच्छादित करने तथा समस्त प्राणियों का वास्तव्य होने के कारण वे 'वातुदेव' हैं ।¹ तीनों लोकों का अतिक्रमण करने के कारण वे 'विष्णु' कहलाते हैं ।² वे दम के माध्यम से तिति प्राप्त करने की कामना करते हैं तथा तीनों लोकों में प्रतिष्ठित हैं । इसीलिए नारायण 'दामोदर' हैं ।³ अन्न, वेद, जल तथा अमृत की पृथिवि कहा गया है । ये नारायण के गरी में विद्यमान हैं । इसीलिए वे पृथिवीगर्भ हैं ।⁴ तृतीय चन्द्र एवं अग्नि की क्रियां नारायण की केवलक हैं, इसीलिए वे 'केसव' हैं ।⁵

तृतीय तथा चन्द्रमा की क्रियां नारायण के हैं । ये दोनों बोधन तथा तापन के कारण तैत्तिर की हवीं प्रदान करते हैं । इसीलिए वे 'हृषिकेश' हैं । यथाभाग हरण करने के कारण तथा हरिश्मणि के समान वर्ण के कारण वे 'हरि' हैं । मनुष्यों का धाम तथा अजायित अस्तित्व होने के कारण उन्हें ब्राह्मण 'वतधामा' कहते हैं । जल में डूबी पृथ्वी का उद्धार करने के कारण देवता उन्हें 'नौविन्द' कहते हैं । निरवयव होकर सभी वस्तुओं में प्रवेश करने के कारण वे त्रिविध हैं । सभी जन्म न लेने के कारण तथा सभी प्राणियों का केवल आत्मा होने के कारण वे 'जग' हैं । तापत्यस्य तथा तत्त्व ते च्युत नहीं होने के कारण एवं निष्काम कर्मयुक्त तथा तात्पत्, पाँचरान आदि कर्मों से दिकार्द्ध बहने के कारण वे 'तात्पत्' कहलाते हैं । काने मोटे का हलकाल होकर पृथ्वी का कर्षण करने के कारण वे काने वर्ण के हैं । इसीलिए 'कृष्ण' कहलाते हैं । नारायण ने भूमि के साथ जल, आकाश के साथ वायु तथा वायु के साथ अग्नि की संश्लिष्ट किया है । इस प्रकार प्रकृति की संयोजन-सम्बन्धी कुठा की गष्ट करने के कारण ही उसका नाम 'वैकुण्ठ' है । निराणि स्त्री परम धर्म से च्युत न होने

1- महा०, 12. 328. 36.

2- वही, 12. 328. 38.

3- वही, 12. 328. 39.

4- वही, 12. 328. 40.

5- वही, 12. 328. 43.

के कारण वे 'अध्म' हैं। वृद्धी एवं आकाश विचलनीक कहनाते हैं, इन्हें धारण करने के कारण वे अधीक्य हैं। जीवों का प्राणाधार घृत ही नारायण के स्वस्वभूत अग्नि की अग्नि है। इसीलिए नारायण 'पूतार्थि' हैं। उन्हें 'त्रिधातु' भी कहा गया है। तंतार में धर्म वृषत्व में विख्यात है। निम्बु में भी वृष की धर्म कहा गया है। इसीलिए नारायण उत्तम'वृष' हैं। कवि का वराह ते तथा त्रेष्ठ एवं धर्म शब्द का वृष ते तात्पर्य है। इसीलिए प्रजापति काय्य उन्हें 'वृषाकपि' कहते हैं। तुरातुर उनका आदि, मध्य तथा अन्त नहीं जानती। इसीलिए वे तीकताही 'वैश्वर' हैं। ववित्र तथा ब्रह्मीय विषयी को तुलने के कारण वे 'बृहन्निवा' हैं। दिव्य दर्शन ते युक्त रक्षुनी वराह स्व धारण करने के कारण वे 'रक्षुन' हैं। वराहाक्षार में तन्ध, मुञ्ज तथा दत्त के ऊपर उठे होने के कारण वे 'त्रिकुट' हैं। नारायण ही कपित तथा हिरण्यगर्भ हैं। वे ही समस्त वेद तथा उनके उच्चारण की विधियाँ हैं।¹ इस कथन से स्पष्ट है कि नारायण अतीभिन्न स्वत्व से सम्बन्ध हैं।

नारद ने यह विचार प्रकट किया है कि श्वेतदीप में उन्होंने भिन्न नारायण का दर्शन किया था, नर तथा नारायण भी उती * प्रकार के हैं। अन्तर ज्ञाना ही है कि श्वेतदीप के नारायण वरा प्रकृति हैं।² जिस लक्ष्मी से वह अव्यक्त युक्त है उन्हीं लक्ष्मी से सम्बन्ध व्यक्त स्व में नर तथा नारायण हैं। वरमात्मा नारायण भक्तों एवं दिवातियों के प्रिय हैं।³ इसीलिए उन्हें भाग्यप्रिय, विश्वभीक्ता, भक्तवत्सल आदि कहा गया है। वे श्वेतदीप में तत्पर्यारत हैं। इस अवधि में वहाँ न तुर्य त्वता है न चन्द्रमा तमीष होता है और न ही हवा चलती है।⁴ प्रकृति वृक्षाय शान्त एवं स्थिर रहती है। वृद्धी के ऊपर आठ अंगुल ऊँची घेदी वर उत्पन्न होकर एवं एक पेर पर स्थित नारायण जंगलस्थित घेदों का

1- महा०, 12.330.2-25.

2- वही, 12.331.35.

3- वही, 12.331.43.

4- वही, 12.331.46.

बाठ तथा तपस्या करते हैं¹। तमस्त तुरातुर, ब्रह्मा, स्र, नाग, तुमनी, गन्धर्व, तिष्ठ तथा राजर्षि उनके चरणों में हृष्यक्षय के साथ उपस्थित होते हैं। उन्हें भक्तों से प्रिय कुछ भी नहीं है²। ऋग्वेद के पुस्तक सूक्त में उपलब्ध कुछ मन्त्र भी प्रायः यही भाव रखी हैं। वहाँ कहा गया है कि 'यह भूमि को धरकर उतते दस अंगुल ऊपर स्थित था'³। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि 'पुस्तक अपने तीन चरणों से ऊपर तथा एक चरण से वहाँ स्थित था'⁴। इती सूक्त में चारों वेदों का उत्पत्ति-स्थल भी पुस्तक को ही बताया गया है⁵।

रवेतादीप में वर्तमान नारायण को ब्रह्मा ने भी नहीं देखा है⁶। ब्रह्मात्मा के तपस्यास्थल पर केवल नर तथा नारायण ही जा पाते हैं। नारायण की कान्ति हजारों सूर्यों के समान है। नारायण से ही पंचभूत उत्पन्न होकर अपने-अपने गुणों को प्राप्त करते हैं। सभी रक्षान्तिम पुस्तक अन्त में बालुदेव में प्रवेश करते हैं⁷। नारायण के देष्टाओं का लोक-वरलोक कुछ भी नहीं होता, उनके पितर तद्विष नरक में स्थित करते हैं⁸। विष्णु ही तबकी आत्मा हैं। व्यास भी नारायणत्वस्थ ही हैं⁹। नारायण ही तपस्या का आधार तथा रक्षान्तिनों के ब्रह्मात्मा हैं। उन्होंने ही चारों वेदों तथा पाँच यज्ञों को धारण किया है। वे ही वृत्त तथा अग्निहोत्रादि कर्मों का फलभाग ग्रहण करते हैं¹⁰। नारायण की ही कृपा से ब्रह्मा वेदयुक्त हुए हैं¹¹। ब्रह्मा की प्रार्थना पर उन्होंने दयशिरा अवतार ग्रहण किया था। तमस्त वेद, यज्ञ, तपस्या, मति, ब्रह्म सत्य, निवृत्तिप्रधान तथा प्रवृत्तिप्रधान धर्म और पंच महाभूतों के गुण सभी नारायणात्मक हैं; अत्यन्तगुणलक्षण

1- महा०, 12.331.47.

2- वही, 12.331.51.

3- त भूमिं विश्वतो वृत्तात्पतिष्ठद्वर्गुणय । ऋग्वेद, 10.90.1.

4- त्रिमासुर्व उदैत्पुस्तकः पादोदस्थेष्टाभस्य पुनः । वही, 10.90.4.

5- तस्माच्छास्य त्विहोत शयः तामासि जज्ञिरे ।

उन्दार्ति जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादवायत ॥ वही, 10.90.9.

6- महा०, 12.332.1.

7- वही, 12.332.18.

8- वही, 12.334.5, 6.

9- वही, 12.334.9.

10- वही, 12.334.15.

11- वही, 12.335.41.

अन्य उन्हीं ही उत्पन्न हुआ है; वे ही काल तथा ज्योतिषों के अयन हैं; कीर्ति, श्री एवं लक्ष्मी देवियाँ तथा सातव-योग शास्त्र सभी नारायणात्मक हैं ।¹

एक स्थान पर कहा गया है कि सभी एकान्तिनों के द्वारा प्रदान की गई विधिपूर्वक पूजा को नारायण स्वयं ग्रहण करते हैं ।² पृथ्वी का भार उतारना तथा दान्यों को पिकट करना नारायण के न्यायकार्य हैं । उन्होंने ही शेषनाग के रूप में पृथ्वी को धारण किया है ।³ पाँचरात्र धर्म नारद ने स्वयं नारायण से ग्रहण किया था ।⁴ नारायण कभी एक, कभी दो, कभी तीन तथा कभी चार व्यूहों वाले दिखाई पड़ते हैं ।⁵

हरिभक्त :-

नारायण को कई स्थलों पर 'हरिभक्त' भी कहा गया है । राजा उपरिषर वसु के द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञ में नारायण ने देव हरिभक्त के रूप में अपना पुरोडास ग्रहण किया था ।⁶ 'महापुस्त्यस्तव' में हरिभक्त नाम भी प्राप्त होता है ।⁷ नीलकण्ठ इसकी व्युत्पत्ति में कहते हैं कि "हरि भक्ता बुद्धिरस्य हरिभक्तः ।" यह व्युत्पत्ति निरान्त समीचीन प्रतीत होती है । एक स्थान पर कहा गया है कि "हरिभक्त देव के हयगिरावतार की कथा सुनकर सन्देहयुक्त युधिष्ठिर ने कहा ।"⁸ इसके अतिरिक्त भी कई स्थलों पर नारायण का कभी देव हरिभक्त के रूप में प्राप्त होता है ।⁹ इस कथन से स्पष्ट है कि नारायण ही देव हरिभक्त हैं जिन्होंने पश्चिमोत्तर समुद्राट पर हयगिरावतार ग्रहण किया था ।¹⁰ डा० वासुदेववरुण अग्रवाल की मान्यता है कि यह देव हरिभक्त ही ईरानी धर्म के

-
- 1- महा०, 12. 335. 79-81.
 - 2- वही, 12. 336. 1.
 - 3- वही, 12. 337. 30, 31.
 - 4- वही, 12. 337. 33.
 - 5- वही, 12. 336. 50.
 - 6- वही, 12. 336. 53.
 - 7- वही, 12. 325. 12.
 - 8- वही, 12. 325. 133.
 - 9- वही, 12. 335. 8.
 - 10- वही, 12. 336. 28; 337. 54.
 - 11- वही, 12. 326. 56.

अहुरमन्द हैं जिनका एक पर्याय 'अवधिरा' है क्योंकि तम्पूर्ण वैदिक साहित्य में हरि शब्द केवल इन्द्र अथवा घोंड़े के लिए आया है। परन्तु यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। अवधिरा नारायण या हरिमेधु का अवतारमात्र है। अवतार और ईश्वर में भेद होता है। ईश्वर का विश्व में साक्षात् आगमन ही अवतार है। इतीन्द्र हयशिरा को हरिमेधु का पर्याय मानना असम्भव है।

पुंस्व स्व में नारायण :-

सुद्र तथा ब्रह्मा के मध्य हुए सम्वाद में ब्रह्मा ने कहा है कि वे नारायण की पुंस्व स्व में उपासना करते हैं। तात्पर्यात् उन्होंने पुंस्व का वर्णन किया है।² ब्रह्मा के अनुसार, सामान्य भेषों से पुंस्व का दर्शन असम्भव है। ज्ञान से ही उस विश्वात्मा को देखा जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीरों से रहित होने पर भी वह सभी के शरीरों में निवास करता है। परन्तु वह शरीर के कर्मों में लिप्त नहीं होता। पुंस्व ही सबकी अन्तरात्मा है। पुंस्व सभी का साक्षी है परन्तु उसे कोई भी नहीं देख सकता। यही विश्वमूर्ति, विश्वभृज, विश्वपाद, विश्वनेत्र तथा विश्वनासिक है। वह स्वेच्छाकारी अनेक ही सभी क्षेत्रों में भ्रमण करता है। कोई भी व्यक्ति उसकी गति को जानने में समर्थ नहीं है, परन्तु ब्रह्मा ने सांख्य एवं योग के माध्यम से उसकी गति का वर्णन किया है। वह अनेक सनातन पुंस्व ही महापुंस्व है। यहाँ पुंस्व ब्रह्मा ने ऐसी बहुत सी वस्तुओं का उदाहरण दिया है जो एकमात्र होती हुए भी विश्व में व्याप्त है, यथा— अग्नि, सूर्य, वायु तथा सागर। इसी प्रकार वह निर्गुण पुंस्व भी एक है जिसमें सभी प्राणी प्रवेश पाते हैं। देह आदि सभी गुणयुक्त पदार्थ, बुद्धाशुभ कर्म तथा सत्य एवं अमृत दोनों का परित्याग करके ही निर्गुणत्व प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि निर्गुणत्व की प्राप्ति के लिए भौतिक एवं भौग्य दोनों के भेद का त्याग आवश्यक है।

1- SATO वातुदेवकरण ग्रन्थानु, भारत- सावित्री 131, पृ० - 294 .

2- MATO , 12, 339.

पुण्य अधिष्ण्य है परन्तु उसके चार तूटम भावों अर्थात् वातुदेव, संकीर्ण, प्रपुष्प तथा अनिष्ट की जानकर प्रभु की प्राप्ति किया जा सकता है । कुछ विद्वान् परमात्मा की इस प्रकार जानना चाहते हैं । दूसरे विद्वान् पुण्य प्रत्यगात्मा की एकात्मा के साथ अधिष्ण्य समझते हैं । जिस प्रकार कमलत्रय जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार पुण्य कर्मकाँ से लिप्त नहीं होता ।¹ इससे भिन्न जो दूसरा मत है । जीवात्मा । है, वही सभी कर्मों का कर्ता, मोक्ष एवं बन्धन से युक्त तथा तारह राशियों वाला है । नीलकण्ठ इन राशियों का अभिप्राय प्रचण्ड, म्ल, बुद्धि तथा दस इन्द्रियों से लेते हैं । इस प्रकार वह पुण्य बहुत प्रकार से कहा जाता है । वह समस्त लोकों का प्रकाशक, परम वैद्य, बीजा, धीधनीय, पन्ता, भन्तव्य, भीष्ता, भोग्य, प्राप्ता, प्रेय, स्पृष्टा और स्पृशीय है । वही द्रष्टा, द्रष्टव्य, प्रतिता, प्राक्कीय, ज्ञाता, ज्ञेय, तनु तथा निर्गुण है । वह नित्य, शाश्वत एवं अव्यय है तथा गुणों के साम्य से प्रधान कहलाता है । वही अनिष्ट है और पहले ब्रह्मा की उत्पत्ति करता है । संसार में जो आशीर्वादयुक्त वैदिक कर्म होते हैं वे सभी उसी की प्रसन्नता के लिए होते हैं । सभी देवता, मुनि तथा आत्मायामी जब सर्वप्रथम उसे ही क्लृप्त प्रदान करते हैं । वातुदेव आदि में चार प्रकार से विभक्त वह पुण्य इष्टानुसार बँट्टा करता है । पुण्यविषयक इस ज्ञान की ब्रह्मा ने सावित्र एवं योग के अनुसार प्रकट किया है ।

कुछ विद्वान् नारायण, वातुदेवकृष्ण एवं विष्णु की भिन्न-भिन्न सत्ता मानते हैं । महाभारत के समय में इन्होंने एक मान लिया गया था । श्री भंडारकर कहते हैं कि " उत्तर ब्राह्मण काल में इस प्रकार परम पुण्य के रूप में विवक्षित नारायण वस्तुतः वातुदेव से पूर्ववर्ती थे तथा महाकाव्य काल में जब वातुदेव की पूजा का उदय हुआ, नारायण के साथ वातुदेव का तादात्म्य किया गया ।"² भंडारकर के ही अनुसार "उक्त काल में धार्मिक चिन्तन की तीन धारारें परस्पर मिलकर एक हो गई -- पहली, जिसके मूल में वैदिक विष्णु थे; दूसरी, जो विराट नारायण से मिली; तृतीया तथा तीसरी, जो ऐतिहासिक देव वातुदेव से निकली ।"³ ऐसा लगता है

1- महा०, 12. 339. 14.

2- आर०जी०भंडारकर, वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत, पृ०-57.

3- वही, पृ०-40.

किं भविता उपातना के विचार का उदय तो पहले ही हो चुका था, परन्तु उसे निश्चित स्वरूप तक प्राप्त हुआ जब वासुदेव ने अर्जुन की गीता का उपदेश दिया । एक स्वतन्त्र समुदाय के रूप में इसका गठन तब हुआ जबकि वासुदेव के भ्राता, पुत्र एवं पौत्र कतिपय भविवृत्तियों के अधिष्ठाता उनके रूप मान लिए गये अथवा किसी उद्देश्य के निमित्त उनके द्वारा कृत्य बताए गये । यह समुदाय सात्वतों की जाति से सम्बद्ध हो गया ।¹ इससे कुछ भिन्नता रखी हुए श्री दासगुप्त यह सम्भावना प्रकट करते हैं कि² वासुदेव आदिपुत्र का ही एक नाम था और इस प्रकार वह उस विष्णु से सम्बद्ध थे जिसके तीन पद स्वर्ग में विद्यमान थे । वस्तुतः वासुदेवकृष्ण तथा नारायण के तादात्म्य का यह उल्लेख नारायणीयसू में ही प्राप्त होता है जहाँ कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वे ही सूर्य स्वस्थ होकर शिरणों की सहायता से समस्त विश्व को व्याप्त करते हैं ।³

श्री के० एम० मुंशी के अनुसार नारायण एक प्राचीन इतिथि से जिनकी देवता के रूप में उपासना होती थी । दूसरी ओर, वैदिक देवता विष्णु में अन्य देवताओं के भी गुणों का समावेश हो गया । अवतारवाद की मूलिन धारणा ने दोनों को एक कर दिया । वासुदेव उस समय तक जननायक माने थे, अब उन्हें लौकिक अवतार माना जाने लगा । बाद में तीनों मिलकर हरि कहलाने लगे जो कि सर्वात्मिनायी प्रथम की संज्ञा थी ।⁴ श्री डी० सी० हरकर महाभारत की एक अध्या का उल्लेख करते हैं जिसमें दो वासुदेव का वर्णन प्राप्त होता है — एक सात्वत-सात्वत - वृजिभुजनायक वासुदेवकृष्ण तथा दूसरा पाण्डूक वासुदेव जो सम्भवतः उत्तरी बंगाल के अनायी का जननायक था । उसने अपने मामा का वध किया था । उसके दुष्कायों को सर्वसंग्रह सिद्ध करने के लिए ही उसे उसके पूर्ववर्ती उपदेशक नारायण से सम्बद्ध कर दिया गया । भागवत धर्म के लिए सात्वत नाम यह प्रदर्शित करता है

- 1- आर० जी० मङ्गारकर, वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक भा, पृ०- 9.
- 2- तुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, इण्डियन फिलॉसफी 121, पृ०-541 .
- 3- छांदोग्योपनिषद् भूषा सूर्य इवांशुभिः । महा०, 12. 328. 36.
- 4- के० एम० मुंशी, भूमिका, द रथ ऑफ़ इन्डो-रिक्वा यूनिटी, पृ० - 11.

कि इतका संस्थापक यादव-तात्त्व-पृथ्विजुगनायक वातुदेव से भिन्न नहीं था । कृष्ण के तन्मय में प्राप्त वे कथार्य ही उते उस विष्णु से सम्बद्ध करती हैं जिसे ऋग्वेद में कुवर कहा गया है । वहीं अन्य पुस्तक में श्री सरकार वातुदेव तन्मयाय के संस्थापक वातुदेव का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में पाते हैं जहाँ ऋषि कृष्ण को ऋषि घोर अंगिरस का शिष्य बताया गया है । यह भागवत धर्म तुर्यभूजा का ही विकसित रूप था । नारायणीयसु में भी तात्त्व विधि के अनुसार तुर्य की पूजा करने का विधान है । गीता में भागवत धर्म की परम्परा तुर्य से प्रारम्भ बताई गई है ।² वस्तुतः । पृथ्विजुगनायक । कृष्ण श्री राम के समान एक जननायक थे जिनका बाद में देवीकरण हो गया । उनको आदित्य उपासना के पौराणिक आठयान के साथ संयुक्त करना उतना ही अनुचित है, जितना कि बुद्ध तथा कृष्ण को कार्थविक मानना ।³ डी०सी०सरकार इन सभी की बुद्ध-बुद्ध स्वीकार करते हुए कहते हैं कि श्रमथ ब्राह्मण में पुरुष नारायण द्वारा प्रजापति के लिए किए गये तीन यज्ञों का उल्लेख है परन्तु वहाँ नारायण का तादात्म्य विष्णु या किसी भी आदित्य के साथ नहीं किया गया है । नारायण तथा वातुदेव के तादात्म्य का सर्वप्रथम उल्लेख 'बोधायन - धर्मसूत्र' में मिलता है ।⁴

श्री आर० जी० भंडारकर नारायण की ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्तित्व न स्वीकार कर आत्यन्तिक सत्ता मानते हैं । उन्हें नारायण को एक प्राचीन धार्मिक नेता मानना अधिक तर्कसंगत लगता है जिनका जन्म एक दूसरे ऋषि नर के गृह में हुआ था । दोनों सम्भवतः तुर्योपासना का समर्थन करते थे जितने उन्हें बाद में आदित्य देव विष्णु के साथ सम्बद्ध कर दिया । नारायणभक्त बाँधरात्रिक कहलाते हैं जिनका आगे चलकर उन भागवतों के साथ मिला हो गया जो तात्त्व विधि से भागवतों की पूजा करते थे ।⁵ हरिभाउ उपाध्याय के अनुसार भगवद्गीता के उपदेशक कृष्ण घोर अंगिरस के शिष्य थे । यह कृष्ण नारायणीयसु के कृष्ण से भिन्न है ।⁶

1- डी०सी०सरकार, दसज ऑफ इन्डो-रियल यूनिटी, पृ०- 437-438.

2- वही, पृ०-433.

3- वही, पृ०-435.

4- वही.

5- आर०जी०भंडारकर, दसज ऑफ इन्डो-रियल यूनिटी, पृ०-436.

6- हरिभाउ उपाध्याय, भागवतधर्म, पृ०-284.

इन सभी भाँ का तार यह है कि वासुदेवकृष्ण, विष्णु तथा नारायण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखी थे । स्वयं वासुदेवकृष्ण के नाम से दो या तीन व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है । परन्तु आगे चलकर इन सभी को एक मान लिया गया । इन सभी विद्वानों ने विष्णु, नारायण या वासुदेवकृष्ण की सामान्यतः ऐतिहासिक दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया है । ऐतिहासिक दृष्टि से विष्णु एक देवता हैं जो सूर्य का देवीकरण हैं, नारायण एक ऋषि हैं जिनका जन्म धर्म के गृह में हुआ था तथा कृष्ण एक सामान्य जन हैं जिनके अतीतिक कृत्यों को देखकर बाद में उन्हें अवतार मान लिया गया । आस्य इन तीनों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं दृष्टिगोचर होता ।

परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से इनमें कोई-मिट नहीं है । विष्णु एक वास्तविक तत्ता हैं जो ईश्वर का ही एक स्वरूप हैं । सूर्य उनका प्रतीक है क्योंकि दोनों ही गतिशील, क्रियात्मक, प्रकाशवान् तथा ज्ञानयुक्त हैं । विष्णु का सूर्य से सम्बन्ध इतना गहरा है कि विष्णु भी आदित्य हैं । ऋग्वेद में अन्तरिक्ष में विष्णु के तीन पदों की कल्पना की गई है । सूर्य की भी तीन अवस्थायें होती हैं-- प्रातःकालीन, मध्याह्नकालीन तथा सायंकालीन । सम्भवतः इसीलिए ऋषियों ने दोनों में तादात्म्य स्थापित कर दिया । आत्यन्तिक तत्ता होने के कारण विष्णु अव्यक्त हैं तथा वासुदेवकृष्ण के स्वरूप में स्वयं को व्यक्त करते हैं । इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से कृष्ण एक आवतारिक पुरुष हैं । नारायण तो विष्णु की ही एक स्था है । दो अथवा तीन वासुदेवकृष्ण की कल्पना भी तारहीन प्रतीत होती है क्योंकि एक ही व्यक्ति का योद्धा, जन्मायक और धार्मिक उपदेशक अथवा योगी होना असम्भव नहीं है । ऐतिहासिक दृष्टि से इस नाम के धारक अनेक व्यक्ति हो सकते हैं । अवतारों की धारणा केवल विष्णु के साथ ही संयुक्त है इसलिये कृष्ण का स्मरण विष्णु के अवतार के रूप में किया जाना अतन्त्र नहीं है । नारायण तथा विष्णु एक ही तत्ता की विभिन्न स्थायें हैं । नारायण के लिए प्रयुक्त 'ऋषि' विशेषण उनकी लौकिकता को

1- तद्विष्णोः परमं पदं तदा परमन्ति सूरयः । दिवीयं यक्षुराततम् ॥

नहीं उचित ब्रह्मज्ञानमयता को तृप्ति करता है।¹ तद्विचार्यै इत तदय को प्रमाणित करती हैं कि उपासना की चरम वक्रिणति यधि तथा देवता के एकीकरण में होती है। नारायण की यधि मानकर नर के गृह में उनके जन्म की कल्पना अतमीचीन है। इसके विपरीत भण्डारकर की यह मान्यता अधिक उपयुक्त है कि नारायण आत्यन्तिक तत्ता हैं। इसीलिए इन तीनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करने की अपेक्षा यह मान्यता अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है कि नारायण, विष्णु तथा वासुदेवकृष्ण तीनों एक ही ब्रह्मज्ञान से तन्मूढ हैं।

नारायण का निवास:-

हयगिरावतार से पूर्व नारायण जल में शैव्यायुषा पर योगनिद्रा में जपन कर रहे थे।² परन्तु यह नारायण का वास्तविक निवास स्थान नहीं है क्योंकि हयगिरावतार में अपने कार्यों के समाप्त होने के पश्चात् "ब्रह्मा को तृप्ति के लिए बुद्धि प्रदान करके वे जहाँ से आए थे वहीं चले गये।"³ श्वेतद्वीप भी नारायण का वास्तवस्थान नहीं है, वे वहाँ आकर केवल दर्शन देते हैं।⁴ नारद श्वेतद्वीप में नारायण की माया-स्वल्पिणी आधा प्रकृति का दर्शन करते हैं⁵, अतः यह उनकी आधा प्रकृति का निवास है।

श्वेतद्वीप की श्वेतता उसकी त्नीगुण प्रधानता का सूचक है। ऐसी स्थिति में नारायण के लोक को उतते परे होना चाहिए क्योंकि वे गुणातीत कहे गये हैं। श्वेतद्वीप में उनकी आधा शक्ति का प्राकट्य मात्र होता है। परन्तुतः शक्ति और शक्तिमान् की एकनिष्ठता को देखी हुए तो आधा शक्ति को भी उतते परे स्थित लोक में विद्यमान होना चाहिए। एक स्थल पर आया है कि

अह------

- 1- तत्तयं ज्ञानममर्त्तं ब्रह्म । तैत्तिरीय उपनिषद् , 2. 3. 1.
- 2- महाO, 12. 335. 17.
- 3- दत्तवा पितामहापात्र्यां बुद्धिं लोकवितर्गिकाय ।
- तन्मैवान्तादेष्ये देवी या स्वागता हरिः ।। वही, 12. 335. 67.
- 4- वही, 12. 323. 35.
- 5- वही, 12. 326. 43.

गौलोक सर्व ब्रह्मलोक ही नारायण के अधरोष्ठ हैं ।¹ यह ब्रह्मलोक ही नारायण का परम धाम है । एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मा को उपदेश देकर नारायण तमोगुण से परे, कार्तियुग के धर्म से युक्त, निष्काम कर्मलोक स्थान पर चले गये जहाँ वे पहले से ही अत्यन्त रूप में विद्यमान थे ।²

श्रग्वेद तंष्टिता में विष्णु की स्तुति करते हुए यजमान कहता है कि उसके तीन विस्तृत पदों में समस्त लोक आ जाते हैं ।³ उसके परम स्थान में मधुर अमृत का स्रोत है जो उसके भक्तजनों को आनन्दित करता रहता है ।⁴ यही पुस्त्य सूक्त में कहा गया है कि समस्त सृष्टि के निर्माण के पश्चात् पुस्त्य उत्तरे दक्ष अंगुल अवर प्रतिष्ठित हुआ ।⁵ यही स्थान ब्रह्मलोक अथवा अमृतलोक है । यही नारायण निवास करते हैं । विश्वव्यापी होते हुए भी वे अपने सर्वातिशयिष्व के नाते मूलाः इती लोक में अधिष्ठित हैं ।

नरनारायण :-

नरनारायण की कल्पना नारायणीयसु में प्रतिपादित बाँधरात्र धर्म के लिए आधारस्तम्भ का कार्य करती है । केवल नरनारायणीयसु ही नहीं अपितु सम्पूर्ण महाभारत का दशम अर्ध सर्व नारायण की अवधारणा पर आधारित है क्योंकि व्यास ने ग्रन्थ का प्रणयन इन दोनों के संगमावरण से किया है । नारायण आत्यन्तिक सत्ता हैं । नर उनके साथ तदैव उपस्थित रहते हैं । ईश्वर की दैतव्य में यह कल्पना बाँधरात्र दशम का ताँबय-योग के अधिक निष्कट स्थि करती है । वस्तुतः 'नारायण' विष्णु की उपाधि है । नारायणीयसु में भी इस तथ्य की पुष्टि कई स्थानों पर होती है

- =====
- 1- गौलोकौ ब्रह्मलोकश्च औष्ठावास्ता महात्मनः । वही, 12.335.48.
 - 2- उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मोद्भूतैर्जते ।
तं कार्तियुगधर्मं निराशीः कर्मलोकितसु ।
जगाम तमस्तः पारं यनाद्यन्तं व्यपस्थितसु । वही, 12.336.29.
 - 3- पु तद्विष्णुः सत्वतो वीर्येण मुनी न भीम कुयरी गिरिष्ठा ।
यत्पौस्त्यु त्रिषु विष्णोर्व्यधिधियन्ति भुवनानि विश्वा ।। ३०, 1.154.2.
 - 4- तदस्य पृथग्मभि पाथो अयां नरी यं देवय्या मन्ति ।
उत्क्रमस्य त हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्तः ।। ३०,
 - 5- त भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठददर्शांगुसु । वही, 10.90.1.

उत्पत्ति:-

धर्म के धार में लोककल्याणार्थ नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण ने जन्म लिया ।¹ उनमें से अथर्व नर एवं नारायण ने बदरिकाश्रम में तपस्या प्रारम्भ की । यद्यपि नरनारायण का कर्त्तव्य तर्ज एक साथ हुआ है किन्तु नर गौण प्रतीत होते हैं । नारायण की उत्पत्ति, अवतारों एवं कार्यों का उत्पत्ति प्रमुख रूप से हुआ है । केवल बदरिकाश्रम में तथा दक्षयज्ञ के पश्चात् सृष्टि के साथ हुए युद्ध में दोनों का कर्त्तव्य समान रूप से मिलता है ।

नरनारायण धर्म की सन्तान कहे गये हैं । वेदों में जिसे शत कहा गया है कालान्तर में उसे ही धर्म मान लिया गया । बहुत से देवताओं की श्रेष्ठता की प्रतिष्ठादि करने के लिए, तंत्रिकाओं में उन्हें शत की प्रथम सन्तान कहा गया है । प्रजापति के रूप में अग्नि की शत की प्रथम सन्तान माना गया है ।² सम्भवतः इसी आधार पर नर एवं नारायण धर्मात्मज कहे गये हैं ।

अथि एवं देवता का तादात्म्य :-

नर तथा नारायण दोनों देवताओं को अथि व भी कहा गया है । मुक्तः अथि तथा देवता में भेद है । एक साध्य है और दूसरा साध्य । परन्तु साधना की परमावस्था में दोनों में ऐकात्म्य-भाव स्थापित हो जाता है । फलतः अथि स्वयं की देवता समझने लगता है । ऋग्वेद में 'पुंस्व -तूक्त' के अथि नारायण तथा देवता पुरुष हैं । शतपथ ब्राह्मण कहता है, "पुंस्वो ह वै नारायणः" अर्थात् पुंस्व ही नारायण हैं ।³ यहाँ अथि स्वयं अपनी स्तुति कर रहा है । इस प्रकार पुंस्व तथा नारायण को एक ही सत्ता मान लिया गया है । 'वागात्म्युक्ती तूक्त' में तो अथि तथा देवता दोनों ही अग्रेष्ठा अथि की पुत्री वाग् है ।⁴ यहाँ अथि एवं देवता में तादात्म्य स्थापित हो गया है । नारायणीयसु की स्थिति

1- महा०, १२.३२१.८-९.

2- अग्निर्नः प्रथमया शतस्य । ऋग्वेद, १०.५.७.

3- शतपथ ब्राह्मण, १३.६.१.

4- ऋग्वेद, १०.१२५.

इतने विपरीत है। वहाँ देवता की ही वधि स्व में कल्पना की गई है।¹
मूल स्व में दोनों का तात्पर्य एक ही है। वैसे ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही
अग्नि देवता की वधि एवं यज्ञ का पुरोहित कहा गया है।²

नर तथा नारायण में परस्पर सम्बन्ध :-

=====

नर तथा नारायण का जन्म एक साथ हुआ है। आरम्भ
इन दोनों में भ्रातृभाव या मित्रभाव स्वाभाविक है। इस दृष्टि से दोनों को
समान महत्त्व प्राप्त होना चाहिए। परन्तु यहाँ नारायण के माहात्म्य के तम
नर गीत हो गये हैं। नर तथा नारायण ने ही अर्जुन एवं कृष्ण के स्व में अवतार
लिया था। स्वयं कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि " हे अर्जुन, तुम और मैं ही नर
तथा नारायण हैं जिन्होंने पृथ्वी का भार उतारने के लिए मानव शरीर
धारण किया है।"³ यह शक्ति नर एवं नारायण के तत्वाभाव की पुष्टि करता है।
यह अंश स्पष्टतः गीता से प्रभाविता प्रतीत होता है। परन्तु गीता में इस
विषय में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। नारायणीयस्य में ही अन्यत्र नारायण
ने नारद से कहा है कि " पृथ्वी पर सभी बलवान् राजाओं के एकत्र होने पर
अकेला इन्द्रपुत्र ही मेरा सहायक होगा।"⁴ इन्द्रपुत्र का तात्पर्य यहाँ अर्जुन से
होना चाहिए। वस्तुतः महाभारत में नर एवं नारायण ने अर्जुन एवं वातुदेव के
तादात्म्य के बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं।

नर तथा नारायण की अवधारणा उस वैदिक आख्यान पर
आधारित प्रतीत होती है जिसमें ईश्वर तथा जीव की कल्पना दो पक्षियों
के स्व में की गई है। इस स्वक के अनुसार दो पक्षी जो परस्पर मित्र हैं, एक
ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उन दोनों में से एक वृक्ष के फलों का आस्वादन

=====

1- ततः त ददुके देवी पुराणावुक्षिततमी । महा०, 12. 331. 23.

2- अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजस्य । होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ०. 1. 1. 1.

3- महा०, 12. 328. 33.

4- वही, 12. 326. 90.

था । महाभारत के इस प्रसंग का अग्निद में प्राप्त होना आश्चर्यजनक है जबकि दोनों ग्रन्थों के मध्य का अन्तर प्रायः डेढ़-दो हजार वर्षों का होना चाहिए ।

इस प्रश्न के समाधान के लिये मैं कुछ तर्क दिए जा सकते हैं । पारम्परिक मान्यता के अनुसार वेदों में जो विचार उपनिषद् हैं, समस्त सृष्टि अपने देश तथा काल के विस्तार में उन्हीं विचारों का स्थूल रूप है । इस दृष्टि से अर्जुन एवं कृष्ण भी संहिताओं में विचारमात्र हैं । पुनः महाभारत में इन दोनों का जन्म इन्हीं विचारों के कारण हुआ । परन्तु तार्किक दृष्टि से यह बात संभव नहीं आती होती । एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि संहिताओं के ये विचार हजारों वर्ष पश्चात् अकस्मात् घटित हो गये । परन्तु ज्ञाने यह संयोग का होना असम्भव प्रतीत होता है । किसी एक विचार के घटित होने में एवं महाभारत जैसे विशाल युद्ध तथा उसके पात्रों के एक साथ वास्तविक रूप में घटित होने में बहुत अन्तर है । एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि ऋषि त्रिकालदर्शी थे । ज्ञाताः उन्होंने घटना का पूर्वानुमान कर उसे मन्त्रबद्ध कर दिया । यदि ये सभी मान्यताएँ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती हैं तो यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि यह विचार स्वयं में ज्ञाना अवितजाली था कि परवर्ती घटनाओं पर आरोपित हो गया । इसीलिए कृष्ण कहीं पर विचारमात्र प्रतीत होते हैं, कहीं वे देवता हैं तथा कहीं ऋषि । परन्तु अन्ततः वे एकमात्र आत्यन्तिक सत्ता हैं । इसी परमसत्ता का एक नाम नारायण भी है ।

नर तथा नारायण का स्थूल रूप :-

=====

नर और नारायण देवता हैं । उन्होंने ऋषि रूप में जन्म लिया । मानवीय होते हुए भी उनकी स्वाकृति अलौकिक थी । इस दृष्टि से नारायण का यह अवतार राम तथा कृष्णावतार से भिन्न प्रतीत होता है । नर तथा नारायण तत्त्वों में ज्ञाने हुए ही गये थे कि उनके शरीर की नहीं दिखाई बढ़ने लगी थी ।¹ इक्ष्वाकुपुत्र से पुनः बदरिकाश्रम आने पर नारद ने दोनों ऋषियों के भौतिक स्वस्थ का खोज किया । नर तथा नारायण आत्मनिष्ठ,

1- ती कृष्ण धर्मनित्यता । महा0, 12.321.11.

त्वस्या में निरत तथा महाप्रती ये । उनकी तेजस्विता सूर्य से भी अधिक थी ।
 दोनों अधि प्रीयत्सलक्षणसम्पन्न¹ तथा कटाधारी ये । उनके हाथों तथा पैरों
 में क्रमाः हंत एवं यक्ष के चिह्न थे । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार
 " यह गुप्तकालीन प्रतिभाशास्त्र का लक्षण है और ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं ।
 मंडुवार से प्राप्त कुम्भमूर्ति में यह लक्षण स्पष्ट है । कालीदास ने भरत के हाथ
 को जालांगुलि लिखा है ।² परन्तु इस दृष्टि से महाभारत अथवा नारायणीय
 को गुप्तकालीन नहीं लिख किया जा सकता । गुप्तकाल के एक शिलालेख में
 महाभारत की 'भारतावली संहिता' कहा गया है । महाभारत के एक लाख
 श्लोक उसके परिशिष्टांश³ हरिवंशपुराण⁴ की भिन्नकर ही पूरे होते हैं ।
 हरिवंशपुराण की पहली शताब्दी ई०पू० की रचना माना जाता है । परिशिष्टांश
 ग्रन्थ के अन्त में होता है । इस दृष्टि से महाभारत का वर्तमान रूप पहली
 शताब्दी तक निर्धारित हो चुका था । इससे प्रतीत होता है कि प्रतिभा-शास्त्र
 के ये लक्षण चाहे गुप्तकाल में प्रकट हुए हों किन्तु इससे सम्बन्ध आधारणाये
 प्राचीनतार थीं ।

नारद ने दोनों अधियों को विज्ञान वक्षःस्वम्, आजानुबाहु
 तथा क्षुब्धक्षुब्ध से युक्त बताया है । नर तथा नारायण के मुँहों में ताठ दाँत
 तथा जाठ दाढ़े थीं । दोनों अधियों के त्वर भ्रमर्जन तद्वत् थे । उनकी मुद्राकृति,
 ठोड़ी, भौंह तथा नासिका अत्यन्त रुचिर थे । वे विज्ञान ललाटों वाले थे ।
 दोनों महापुरुष प्रेष्ठ लक्ष्मी से सम्पन्न⁵ सनातन अधि⁶ थे । अपनी त्वस्या तथा
 तेज के कारण वे देवताओं के लिए भी दुर्दृशीय थे । जिसपर उनकी कृपा होती
 थी वही उन्हें देख सकता था ।⁵ नारद उनकी अनुमति के पश्चात् ही बदरिकाश्रम
 आ गये थे ।⁶

=====

- 1- यह लक्षण विष्णु का माना जाता है ।
- 2- डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत- सावित्री 131, पृ०-203.
- 3- महा०, 12. 331. 23-27.
- 4- वही, 12. 331. 36.
- 5- वही, 12. 321. 12.
- 6- वही, 12. 321. 13.

अवतार की कल्पना =====

अब पूर्वक/तु , गतौ, धातु से धृ प्रत्यय होकर अवतार शब्द निष्पन्न होता है । * अद्यक्त स्य ते विद्यमान परमात्मा का व्यक्त हो जाना अथवा सर्वशक्ति -सम्पन्न निर्विशेष शक्ति का उद्देश्य विशेष के लिए विग्रह धारण करना अवतार का आशय है ।¹ दूसरे शब्दों में लोकहितार्थ ईश्वर का भूमि पर जन्म लेना ही उनका अवतार ग्रहण करना है । अवतारवाद वैदिक काल की देन नहीं है । वहाँ केवल देवताओं के निमित्त यज्ञोपासना ही विहित है । किन्तु परवर्ती काल में उपासना में भक्ति के प्राधान्य के साथ ही अवतारवाद की धारणा भी उत्पन्न हुई । सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इन्द्र सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं । तत्पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आया । रामायण, महाभारत काल तक आते-आते परम तत्ता विष्णु में निहित हो गई । इतने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का कारण तो अस्पष्ट है परन्तु जनसामान्य इस व्यवस्था को निर्विवाद एवं स्वाभाविक रूप से अंगीकार कर चुका था ।² अब विष्णु की कल्पना आत्यन्तिक तत्ता के सगुण रूप ईश्वरमात्र में ही नहीं की जाने लगी प्रत्युत उन्हीं के व्यक्तित्व में उपनिषदों का सर्वातिशायी, निराकार ब्रह्म भी समाहित हो गया ।

अवतार की आवश्यकता :-

अवतार की कल्पना प्रायः विष्णु के साथ ही संयुक्त है । महाभारत, पुराण तथा परवर्ती संस्कृत-साहित्य में विष्णु के दशावतार प्रसिद्ध हैं । परमात्म-स्वरूप विष्णु ही हरि एवं नारायण नामों से जाने जाते हैं ।

-
- 1- डा० राजकिशोर सिंह एवं डा० उषा यादव, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, पृ०- 166 ।
 - 2- इन्द्र की प्रतिष्ठा में इतना का संकेत नारायणीयम् में उपलब्ध अध्याय 329 की कथाओं में भी प्राप्त होता है जहाँ ब्राह्मणों द्वारा इन्द्र को अभिशप्त किए जाने की अनेक कथाओं का उल्लेख है ।

यह निश्चित है कि अवतार ब्रह्म अथवा पुरुष का न होकर उसके साकार रूप ईश्वर का होता है । अवतार ग्रहण करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? इस प्रश्न का उत्तर 'श्रीमद्भगवद्गीता' में स्वयं श्रीकृष्ण ने यह कहकर दिया है कि " जब-जब धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ ।" अतएव प्रत्येक युग में तज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाश के लिए ईश्वर अवतार ग्रहण करते हैं । ² 'नारायणीयसु' में भी कहा गया है कि नारायण असुरों के विनाश के लिए विभिन्न अवतार ग्रहण करेंगे । ³

'नारायणीयसु' का मुख्य प्रतिपाद्य नारायण हैं । उन्होंने नर के साथ धर्म के गृह में जन्म लिया । नर तथा नारायण ही अर्जुन एवं कृष्ण हैं । ⁴ परन्तु अवतारों की धारणा केवल नारायण से ही सम्बद्ध है । प्रायः विद्वानों ने विष्णु-कुसनायक वासुदेवकृष्ण तथा नारायण को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है । उनके अनुसार कुछ दिनों के पश्चात् इन दोनों के व्यक्तित्व को विष्णु के साथ एकीकृत कर दिया गया क्योंकि विष्णु ही आत्यन्तिक सत्ता थे । इसके साथ ही यह धारणा भी प्रचलित हो गयी कि नर एवं नारायण ने ही अर्जुन एवं कृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण किया । ⁵ बहुत से विद्वानों ने ऋग्वेद के 'दासुपर्णा' --: ⁶ मन्त्र की प्रतिष्ठाया यहाँ प्रदर्शित करते हुए नर और नारायण को जीव तथा ईश्वर का आयतनबिम्ब

-
- 1- यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ भगवद्गीता, 4.7
 - 2- श्रीमद्भगवद्गीता, 4.8
 - 3- अथ नानासमुद्भूतैर्वतुधारायां यथाक्रमम् ।
निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च ॥32॥
मया धृता धारयति जगद्भिः सधराचरम् ।
तस्मात्पृच्छयाः परिव्राजं करिष्ये तैस्त्वं गतः ॥34॥ महाभारत, 12.337
वही, 12.328.33
 - 4- क- तिलक, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, पृ0-573
 - ख- राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन ॥१॥, पृ0-453
 - ग- हरिभाऊ उपाध्याय, भागवत धर्म ॥2॥, पृ0-356
 - घ- तुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, इण्डियन फिलॉसफी ॥2॥, पृ0-541
 - ड0- डी0सी0सरकार, दी क्लासिकल एज, पृ0-436
 - 6- श0, 1. 167. 20

माना है । निःसन्देह नर एवं नारायण की अवधारणा महाभारत का प्राण है । ग्रन्थ का प्रारम्भ ही इन दोनों की वन्दना से हुआ है । उन्हें जीव और ईश्वर का आपबिम्ब कहा जाय अथवा अर्जुन एवं कृष्ण माना जाय, ग्रन्थ आद्योषान्त इसी धारणा से प्रेरित और अन्ततः इसी में समाहित है । परन्तु नारायण तथा वासुदेवकृष्ण को दो भिन्न व्यक्तित्व समझने का तर्क स्पष्ट नहीं हो पाता । संहिताओं से लेकर महाभारत का पर्यन्त सर्वत्र, नारायण सर्वोच्च सत्ता हैं । इस परमात्माएव की किती ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ समानता या वैभिन्न्य असम्भव है । अवतारवाद के सिद्धान्त के अनुसार भी नारायण तथा वासुदेवकृष्ण की तुलना असंगत है । अवतार ईश्वर का अंश होता है । अतः जिस स्थ में ईश्वर ने अवतार ग्रहण किया है वह स्थ ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता । वस्तुतः अवतार ईश्वर का जन्म है । इसी कारण उसके प्रायः सभी कार्य मानवीय होते हैं । कारण तथा कार्य में कुछ भिन्नता अवश्य होती है परन्तु ईश्वर एवं अवतार में पूर्णतः अमेद होता है । इस दृष्टि से नारायण, वासुदेवकृष्ण या विष्णु एक ही सत्ता की विभिन्न स्वरूपें हैं । ऋग्वेद भी इसी एक सत् सत्त्व को स्वीकार करता है ।¹

नारायण के अवतार :-
=====

नारायण ही विष्णु है ।² विष्णु के साथ दस अवतारों की धारणा जुड़ी हुई है । फलतः यहाँ नारायण के भी अवतारों का वर्णन प्राप्त होता है । इन अवतार कथाओं को 'महोपनिषद्' और पांचरात्र की संज्ञा दी गई है ।³

वि-

-
- 1- एकं स द्विप्रा बहुधा वदन्ति । ऋग्वेद, 1. 164. 46
 - 2- महा०, 12. 324. 30 में पक्षियों में ब्रैण्ठ गच्छ को नारायण का प्रियमात्र कहा गया है । पौराणिक कथाओं के अनुसार गच्छ विष्णु का वाहन है । यह उल्लेख नारायण एवं विष्णु के ऐकात्म्य को सिद्ध करता है ।
 - 3- वही, 12. 326. 100

विष्णु तथा नारायण के अवतारों में प्रायः साम्य है । नारायण ने स्वयं कहा है कि " ब्रह्म के द्वारा सत्कृत लोकों की रचना करके , हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि राम, कृष्ण तथा कल्कि के रूप में प्रादुर्भूत होकर मैं । अपने लोक में । जाऊँगा ।" ^१ यहाँ ' सात्त्वतः ' पद कृष्ण के लिए प्रयुक्त है क्योंकि वे सात्त्वत जाति के माने गये हैं । नर तथा नारायण का उल्लेख इन अवतारों में नहीं है । विष्णु के प्रसिद्ध दशावतारों में कृष्ण के पश्चात् बुद्ध का नाम आता है जिनका यहाँ कोई उल्लेख नहीं है । नारायणीयसु में अन्यत्र भी इस विषय में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता । प्रसूत बुद्ध के स्थान पर यहाँ हंस का नाम श्लोक के प्रारम्भ में दिया गया है । इस दृष्टि से हंसावतार नारायण का प्रथम अवतार है । बुद्ध के उल्लिखित न होने के कई कारण हो सकते हैं । सर्वाधिक सम्भाव्य तो यही है कि नारायणीयसु बुद्ध से परवर्ती है । वैसे एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि बुद्ध महाभारत के इस अंश के समकालीन रहे हों परन्तु बौद्धधर्म को तत्कालीन ब्राह्मणों के द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाने के कारण उन्हें तत्काल अवतारों में स्थान न दिया गया हो । कभी-कभी किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के अलौकिक कृत्यों को देखकर भी उसे अवतारपुत्र की संज्ञा दे दी जाती है । किन्तु इस अवधारणा की व्यक्तस्थिति में भी हजार-पन्द्रह सौ वर्षों का समय ओषित है । हो सकता है कि बुद्ध को इसीलिए नारायणीयसु के काल तक अवतार न माना गया हो । अतएव यह स्वीकार करना भी अनुचित नहीं होगा कि विष्णु के दशावतार की ~~कल्पना~~ पौराणिक कल्पना 'नारायणीयसु' से अर्वाचीन है ।

1- कृत्वा लोकान्गमिष्यामि त्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् ।

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावादिजोत्तम ॥

वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च ।

रामो दाशरथिश्चैव सात्त्वतः कल्किरेव च ॥

महा० । ७० सं० १, १२, ३३९, १०३-१०४ ।

दशावतारों के अतिरिक्त अन्य अवतारों का भी वर्णन यहाँ प्राप्त होता है । इनमें हयगिरावतार का प्रसंग विस्तृत रूप में वर्णित है ।¹ इस अवतार का उल्लेख विष्णु एवं नारायण दोनों के ही दशावतारों में अनुमलब्ध है । सम्भवतः यह एक नवीन कल्पना थी । नारायण का कथन है कि वेदश्रुति के नष्ट हो जाने पर हयगिरा का रूप धारण कर उन्होंने इसे पुनः प्राप्त किया था ।² व्यास भी नारायण का ही अवतार माने गये हैं ।³ हंसावतार के अतिरिक्त शेष सभी अवतारों के विषय में आख्यान भी प्राप्त होते हैं । वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि राम एवं कृष्णावतार से संबन्धित आख्यान अपना पौराणिक स्वस्व सुरक्षित रहे हुए हैं । पुराणों के समान समस्त प्रसंग भविष्यकथन के रूप में है जिसे श्वेतदीप में नारद ने नारायण से कहा है । वैसे एक स्थल पर यह भी आया है कि नारायण के बहुत से अवतार बीत चुके हैं जिनका वर्णन पुराणों में पाया जाता है ।⁴

अवतार कथार्य :-

वराहावतार में नारायण समुद्रनिमग्ना पृथ्वी का उद्धार तथा हिरण्यकक्षिपु का संहार करेंगे । नरसिंह रूप धारण कर वे दितिक्षुत हिरण्यकक्षिपु का वध करेंगे । वामनावतार अदिति-कश्यप के द्वादश पुत्र के रूप में होगा जिसमें नारायण विरोचन के पुत्र बलि के द्वारा अग्रहृत तीनों लोकों को इन्द्र को पुनः प्रदान करके बलि को पाताल में भेजेंगे । त्रेता में नारायण भृगुकुलोत्पन्न परशुराम के रूप में क्षत्रियों का संहार करेंगे । त्रेता तथा द्वापर के सन्धिकाल में दाशरथि राम होकर वे राक्षसप्रति रावण एवं उसके समस्त कुल का विनाश करेंगे । यहाँ प्रजापति के तीनों पुत्रों के संबन्ध में भी एक आख्यान है । त्रित के साथ विश्वात्म्यात करने के कारण एकत तथा

1- महा०, 12. 335 .

2- यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता तदा । वही 12. 326. 94 .

3- पितामहाद्यं प्रवदन्ति षष्ठं महर्षिमाषैयविभूतियुक्तसु ।
नारायणस्याश्वमेधसुत्रं दैवायनं वेदमहान्धियानसु ।।

वही, 12. 337. 4.

4- वही, 12. 326. 95.

द्वित कुस्य होकर वानर योनि प्राप्त करेंगे । उनके ही वंशज दाशरथि राम के तुरकार्य में सहायक होंगे । दापर एवं कलि के सन्धिकाल में कंस के वधार्थ मथुरा में कृष्णवतार होगा । जिन अन्य अतुरों के वध का उल्लेख है, वे हैं--- नरक, भीम, मुरु, पीठ, प्राग्ज्योतिष्मुर के श्रेष्ठ अतुर, सभी निवासी सभी अतुर, कास्यवन और जरासन्ध । यहाँ शंकर, कार्तिकेय तथा बलिमुत्र बाणासुर की पराजय का भी उल्लेख है ।¹

मगध के प्रभावशाली सम्राटों में जरासन्ध की गणना होती है । कृष्ण द्वारा जरासन्ध की हत्या पर टिप्पणी करते हुए श्री के० एम० मुंशी का कथन है कि सम्पूर्ण महाभारत आयों के कार्यों से भरा पड़ा है । उन्होंने अपनी संस्कृति का प्रचार किया तथा प्रभावशाली महान राज्यों की स्थापना की । इस अवधि में उन्हें पश्चिम में नागों तथा पूर्व में मागधों का तीव्र विरोध सहन करना पड़ा । जरासन्ध की मृत्यु आयों द्वारा मगध राज्य के विध्वंस का सूचक है । इस प्रकार महाभारत युद्ध के पूर्व ही पूर्वी प्रान्तों के आर्यीकरण का कार्य समाप्त हो गया था ।² वस्तुतः जरासन्ध को अतुर कहना मागधों के प्रति आयों की घृणा का परिचायक है । कृष्ण द्वारा शंकर, कार्तिकेय तथा उनके प्रियमात्र बाणासुर की पराजय भागवतों की श्रेष्ठ मतावलम्बियों पर विजय का संकेतक है । यहाँ कृष्ण ने यह भी कहा है कि मैं ही कुशस्थली को दारकापुरी के नाम से बसाकर उसमें निवास करूँगा तथा सभी दानवों के वध के पश्चात् दारका में स्थित सात्वत जाति के सभी श्रेष्ठ पुरुषों का विनाश करूँगा ।³ यह आख्यान सात्वत जाति के विनाश की ओर संकेत कर रहा है । हंस तथा हयगिरा अवतार का यहाँ केवल उल्लेख हुआ है । परन्तु एक अन्य अध्याय में हयगिरावतार के विषय में विस्तृत वर्णन मिलता है ।

1- महा०, 12.326.73-90.

2- के० एम० मुंशी, भूमिका, द राज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० - 1

3- महा०, 12.326.83, 92.

हयशिरावतार की कथा :-¹

एक बार नारायण के मन में सर्वजनों की कामना हुई । एतदर्थ उन्होंने महत् नामक अपने गुण का स्मरण किया । महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ । अहंकार ही प्रारम्भ ब्रह्मा हैं । उत्पन्न होते ही ब्रह्मा सहस्रदलकमल में स्थित हो गये । यह कमल ब्रह्माण्ड का प्रतीक है । ब्रह्मा ने समस्त जीवों को उत्पन्न किया । कल्प के प्रारम्भ में एक कमलपत्र पर रविकिरण के समान नारायण द्वारा विरचित जल की दो गुणप्रधान बूँदें विद्यमान थीं । उनमें से पहली बूँद मधु की भाँति मनोहर कान्ति से सम्पन्न थी । वह बूँद नारायण की आज्ञा से तमोगुणयुक्त मधु नामक दैत्य के रूप में परिणत हुई । दूसरी बूँद कठोर थी । फलतः उसने रजः प्रधान कैटभ का आकार धारण किया । जन्म लेते ही मधु तथा कैटभ सर्वत्र दौड़ने लगे । उन्होंने कमल में उपविष्ट ब्रह्मा को देखा । क्षणमात्र में ही दोनों अशुरों ने उनसे वेदों का अपहरण करके तथा उन्हें लेकर समुद्रमार्ग से पाताल में प्रवेश किया । तत्पश्चात् ब्रह्मा ने वेदों के उद्धार के लिए ईश्वर से प्रार्थना की । वेदों के बिना सृष्टिकार्य असम्भव है । इस विचारमात्र से ही ब्रह्मा के हृदय में नारायण की स्तुति के निमित्त बुद्धि उत्पन्न हुई । उन्होंने नारायण से प्रार्थना की कि उन्हीं की कृपा से प्रत्येक तर्ग के प्रारम्भ में उनका जन्म होता है । यह उनका साक्षात् जन्म है । वेदों के हरण से वे अन्धे हो गये हैं । अतएव नारायण उन्हें वेद प्रदान कर पुनः दृष्टिसम्पन्न करें । नारायण ने सृष्टि रचना का विचार योगनिद्रा में किया था । ब्रह्मा की इस प्रार्थना से योगनिद्रा का परित्याग करके उन्होंने हयशिरा का शरीर धारण किया ।

हयशिरा का भौतिक रूप :-

हयशिरा श्वेतवर्ण के थे । उनकी नासिका मनोहर तथा कान्ति चन्द्रप्रभा के सदृश थी । नखत्र तथा तारों से युक्त आकाश ही उनका शिर था । सूर्यकिरणों के समान प्रभासित उनके केश अत्यधिक लम्बे थे । आकाश एवं पाताल

उनके कान थे, पृथ्वी ललाट थी तथा गंगा एवं सरस्वती दोनों महानदियाँ उनकी दोनों भीटें थीं । चन्द्र, सूर्य उनके भ्रम तथा सन्ध्या उनकी नातिका थी । ओंकार उनका आभूषण था एवं विद्युत उनकी बिहवा । सोमपायी पितर उनके दाँत थे । गोलोऊ तथा ब्रह्मलोक उनके हाँठ थे एवं गुह्यधान कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी । इस प्रकार नाना स्वाकृतियों से युक्त होकर उस हयशिरा देव ने अन्तर्हित होकर रसातल में प्रवेश किया ।

हयशिरा का यह भौतिक वर्णन अद्भुत है । वस्तुतः यह वर्णन ईश्वर की सर्वातिशयता को सिद्ध करता है तथा बहुत कुछ 'नारायणीयम्' में ही अन्यत्र उल्लिखित नारायण के स्ववर्णन से साम्य रखता है । हयशिरा का मानवीय स्व ठीक नारायण के समान तो नहीं है परन्तु उतना ही अलौकिक है ।

रसातल में प्रवेश करते ही नारायण ने योग धारण कर शिक्षा सम्बन्धी स्वर से ओम् को उत्पन्न किया । नाद सहित प्रतिध्वनियुक्त वह विशिष्ट कौमल स्वर रसातल में सर्वत्र प्रकट हुआ । शब्द सुनते ही दोनों अतुरों ने वेदों को कालपाश से बाँधकर वहीं पाताल में फेंक दिया तथा स्वर का अनुसरण करते हुए वे दौड़े । तत्काल हयशिरादेव ने वेदों को वहाँ आकर ग्रहण किया । ब्रह्मा को वेद प्रदान करने के उपरान्त उन्होंने पुनः अपनी प्रकृति प्राप्त कर ली । इस प्रकार वेदों के उद्धार के लिए ही पूर्वोत्तर तमुद्रतट पर नारायण ने हयशिरावतार लिया था ।¹ मधु एवं कैटभ ने ओंकार के ध्वनिस्थल पर कुछ नहीं पाया । वे पुनः वेगमूर्चक उसी स्थान पर आए जहाँ उन्होंने वेदों को विसर्जित किया था किन्तु वह स्थान भी शून्य था । तत्काल वे पाताल से ऊपर आए । वहाँ शेषाश्रया पर भगवान् योगनिद्रा में शयन कर रहे थे । ज्वालमालाओं से आवृत उस शय्या से नारायण को उठाकर दोनों अतुरों ने उनसे छुड़ किया । नारायण ने दोनों का वध किया । तत्पश्चात् ब्रह्मा को लोकतृष्टय्य बुद्धि प्रदान करके वे जहाँ से आए थे वहीं चले गये ।² प्रवृत्तिधर्म के प्रचार हेतु उन्होंने पुनः इस हयशिरा स्व को धारण किया था ।³

1- स्थापयित्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधी ।

वेदानामालयचापि वभूवाश्चशिरास्ततः ।। महा०, 12.335.54

2- तत्रैवान्तर्दधे देवो यः स्वागतो हरिः । वही, 12.335.67

3- पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामैव विदधे तनुम् । वही, 12.335.68

इस आख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि नारायण का हयगिरावतार दो बार हुआ था । प्रथम अवतार उत्तरपूर्वी समुद्रतट पर हुआ था । द्वितीय अवतार के विषय में अन्य कोई सूक्ति नहीं प्राप्त होता । यहाँ समुद्र का तात्पर्य समुद्र से ही है अथवा सरिताओं से जैसा कि प्रायः संहिताओं में किया गया है, यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता । यहाँ नारायण को योगनिद्रा में अवस्थित बताया गया है । यह प्रसंग विष्णु के पौराणिक स्वस्थ से अत्यधिक साम्य रखता है । अतएव इससे नारायण एवं विष्णु को अन्ततः एक ही सत्ता सिद्ध करने में सहायता प्राप्त होती है । अन्यत्र भी कई स्थलों पर ' हयगिरा ' या ' अश्वगिरि ' पद का प्रयोग नारायण के लिए हुआ है ।¹

वैदिक आख्यान :-

हयगिरा के सन्दर्भ में एक आख्यान ऋग्वेद तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में भी प्राप्त होता है । कथा के अनुसार दह्यक्ष² ऋषि ने इन्द्र से अत्यन्त गुह्य तथा पवित्र मधुविद्या⁴ सीखने की इच्छा प्रकट की । विद्यादान से पूर्व इन्द्र ने उनसे यह वचन ले लिया था कि किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष यह ज्ञान प्रकट करने पर वे ऋषि का मस्तक विच्छिन्न कर देंगे ; परन्तु कुछ समय पश्चात् अश्विनीकुमारों ने ऋषि से मधुविद्या सम्बन्धी ज्ञान देने का अनुरोध किया । इन्द्र को प्रदत्त वचन के कारण ऋषि ने असमर्थता व्यक्त की । तब अश्विनीकुमारों ने उनका मस्तक काटकर छिया दिया तथा उसके स्थान पर अश्व का सिर जोड़कर उनसे विद्या प्राप्त कर ली । इन्द्र ने आकर ऋषि का सिर काट लिया ।

1- महा०, 12. 325. 90; 326. 56, 94; 327. 81, 82, 86, 95; 330. 36, 335 .

2- ऋग्वेद, 1. 116. 11, 12 .

3- बृहदारण्यकोपनिषद्, 2. 5. 116-119

4- सम्भवतः यह सम्मंजस्य की विद्या है । जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अनेक फूलों से पराग एकत्र कर उनका सम्मंजस्य करते हुए जब मधु का निर्माण करती हैं तब वह मधु सभी फूलों के पराग से भिन्न नवीन आत्मादयुक्त एवं विशिष्ट द्रव्य से सुगन्धित होता है, उसी प्रकार समस्त संसार के सम्मंजस्य से जो विशिष्टतम वस्तु प्राप्त होती है वही ब्रह्म है ।

तदुपरान्त अश्विनीकुमारों ने श्वषि का मस्तक लाकर पुनः उनके पड़ से जोड़ दिया । ज्ञातव्य है कि अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं ।

कथा के अनुसार दृष्टव्य¹ श्वषि अश्वशिरस् या हयशिरा हुए जिनसे अश्विनीकुमारों ने ब्रह्म विषयक मधुविद्या प्राप्त की । यह आख्यान अत्यधिक रोचक है तथा ब्रह्मज्ञान की गुह्यता को प्रकट कर रहा है । सम्भव है कि इसी श्रवणेदीय आख्यान के आधार पर ' नारायणीयम् ' में नारायण के हयशिरावतार की कल्पना की गयी हो । यदि यह सत्य है तो उस आख्यान के अन्तर यहाँ एक विकास यह हो जाता है कि जहाँ वैदिक कथा के अनुसार हयशिरा एक श्वषि हैं वहीं यहाँ ' नारायणीयम् ' में वे स्वयं ब्रह्म हो जाते हैं । यह परिवर्तन अतर्कित नहीं है क्योंकि भारतीय चिन्तन में श्वषि एवं देवता के मध्य तादात्म्य भी पाया जाता है ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अश्वशिरस् या हयशिरा ही हरिमेधस् देव हैं जो सातानी धर्म के अहुरमज़द हैं ।¹ उनके इस चिन्तेषन में कल्पना अधिक है और सारतत्त्व कम ।

' नारायणीयम् ' में प्रत्यक्ष रूप से पाँचरात्र धर्म से हयशिरावतार का कोई सम्बन्ध न होने पर भी इसे अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है । एक स्थान पर इसका माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि हयशिरा देव की आराधना करके ही पाँचरात्र मुनि ने राम के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से वैद्यों का क्रमविभाग प्राप्त किया था ।² सम्भवतः हयशिरावतार एक नवीन कल्पना थी जिसे प्राचीन अवतारों के साथ मिश्रित कर दिया गया ।

अन्य अवतार :-

एक स्थान पर कहा गया है कि भूमि जब दानवों से आक्रान्त हो जायेगी तब नारायण ही उसके भारावतरण का कार्य करेंगे । यहाँ एक ही श्लोक

1- वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत-सावित्री 131, पृ०-204.

2- मह०, 12. 335. 71.

में वामन, नारसिंह, वाराह तथा मानुषावतारों का उल्लेख कर दिया गया है ।¹ सांख्यशास्त्र के प्रवक्ता कपिल मुनि तथा योगशास्त्र में वर्णित पुरुष हिरण्यगर्भ भी नारायण ही बताए गये हैं ।² व्यास की भी नारायण का ठठा अवतार माना गया है ।³ एक अन्य अध्याय में कहा गया है कि पुराकाल में नारायण लोकहितायै ऋषांश्च महर्षिं हुर धे ।⁴

इस प्रकार नारायण की अवतार कथाओं में न केवल विष्णु के प्रसिद्ध पौराणिक दशवतारों का वर्णन है अपितु अन्यान्य अवतारों का भी यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है । 'भगवद्गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "साधुओं की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाश के लिए धर्म के संस्थापनायै" में प्रत्येक युग में जन्म ग्रहण करूँगा ।⁵ यहाँ कृष्ण ने सन्तों की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाश के लिए पुनः-पुनः जन्म लेने का अपना संकल्प व्यक्त किया है । जातक कथाओं में भी बुद्ध के जन्म से पूर्व उनके पाँच सौ अवतार बताए गये हैं । यहाँ दो सम्भावनायें हो सकती हैं -- प्रथम सम्भावना यह है कि ये अवतार कथायें जातक कथाओं से प्रभावित हो सकती हैं । दूसरी सम्भावना यह है कि जातक कथायें ही इन आठवतारों से प्रभावित हैं । नारायणीयसु बुद्ध के पूर्ववर्ती है या परवर्ती, इस पर निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस विषय में कोई स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं है । दोनों समकालीन भी हो सकते हैं । परन्तु दशवतारों के मध्य बुद्ध का नामोल्लेख न होना उन्हें परवर्ती सिद्ध करता है । उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही दृष्टिकोण अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है ।

1- महाO, 12.337.36 .

2- वही , 12.326.64-65

3- वही, 12.337.4

4- वही, 12.329.48.

5- परित्राणाय च साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥ भगवद्गीता, 4.8

पांचरात्र =====

पांचरात्र दर्शन नरनारायणीयसु का प्रमुख प्रतिपाद्य है । इसका विस्तृत विवेचन सर्वप्रथम यहीं प्राप्त होता है ।

गीता से अर्वाचीन :-

वस्तुतः पांचरात्र सम्प्रदाय भागवत अध्या वैष्णव धर्म का ही विकसित रूप है । इसे सात्वत एवं एकान्तिक धर्म भी कहा गया है । भागवत सम्प्रदाय का प्राचीनतम ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' को माना जाता है । कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत में नारायणीयसु अंश भगवद्गीता से प्राचीन है । इस आधार पर भागवत धर्म का प्राचीनतम ग्रन्थ नारायणीयसु होना चाहिये । परन्तु यह अतंसत प्रतीत होता है । स्थूल दृष्टि से पर्वों के अनुसार भगवद्गीता छठे पर्व । भीष्म पर्व । में आता है जबकि नारायणीयसु बारहवें पर्व । शान्ति पर्व । में । यहाँ नारायण ने स्वयं को कृष्ण तथा नर को अर्जुन बताते हुए महाभारत के युद्ध एवं भगवद्गीता के उपदेश का उल्लेख किया है ।¹ इससे स्पष्ट है कि गीता ही भागवतों का प्राचीनतम ग्रन्थ है । श्री दासगुप्त का भी यही अभिमत है । परंजलि ने अपने महाभाष्य । 2.2.24३ में पांचरात्रिकों के प्रसिद्ध व्यूह-सिद्धान्त में से वासुदेव एवं संकर्षण दोनों का उल्लेख किया है । परन्तु भगवद्गीता में केवल वासुदेव का ही वर्णन प्राप्त होता है । इसके दो विकल्प हो सकते हैं --- या तो गीता के काल में पांचरात्र दर्शन विद्यमान नहीं था अथवा गीता में केवल वासुदेव को ही स्थान दिया गया ।² इन दोनों में पहला विकल्प अधिक संभव प्रतीत होता है । वस्तुतः पांचरात्र तथा वैष्णव सम्प्रदायों के पौर्वीकरण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की विप्रतिपक्षितियाँ विद्वानों के मध्य पाई जाती हैं । कुछ विद्वान वैष्णव धर्म को प्राचीनतर मानते हैं और कुछ पांचरात्र को । प्रथम अभिमत को स्वीकृति प्रदान करने वालों में चिन्तरनित्त हैं । उनके अनुसार नारायणीयसु भगवद्गीता से

1- महा०, 12. 330. 67-68.

2- तुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, इण्डियन फिलॉसफी । 21, पृ०-548.

अर्वाचीन है एवं इसकी अनेकशः उपबृंहित किया गया ।¹ द्वितीय अभिज्ञ के विशेष बौध्दों में हरिभाउ उपाध्याय हैं जो भागवत धर्म का मूल 'नारद पांचरात्र' को मानते हैं जहाँ इसे नारायणीय कहा गया है ।² परन्तु प्रथम अभिज्ञ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है । इस स्थिति में नारद-पांचरात्र की प्राचीनता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता ।

पांचरात्र का मूल :-

पांचरात्र दर्शन के मूल के विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है । कुछ इसे वैदिक मानते हैं और कुछ अवैदिक । नारायणीयम् में प्रतिपादित पांचरात्र दर्शन में नारायण को परब्रह्म कहा गया है । वे ही वासुदेवकृष्ण एवं विष्णु हैं । उनकी पूजा सात्वत विधि से होती है । वैदिक काल में यज्ञों को विशेष स्थान प्राप्त था । परन्तु इस विधि के अन्तर्गत उनका स्वस्व परिवर्तित हो गया । अब वे अहिंसक हो गये । वस्तुतः पांचरात्र धर्म में ज्ञानेः ज्ञानेः यज्ञों का महत्व घटता गया, परवर्तीकाल में इसमें भक्तिवाद के कारण मूर्तिपूजा भी सम्मिलित हो गयी तथा यज्ञों का पूर्णतः लोप हो गया । इसके विपरीत संहिताओं में मूर्तिपूजा का कहीं उल्लेख नहीं है । वहाँ देवोपासना के लिए केवल यज्ञों का विधान है । इसी आधार पर स्मृतियों तथा पुराणों में अवैदिक कह कर इस मूल की पर्याप्त आलोचना की गई । कूर्म तथा पाराशर पुराण पांचरात्रिकों को न केवल अवैदिक अपितु पापी भी मानते हैं ।³ स्मृतियों में कहा गया है कि पांचरात्रिकों या भागवतों को ब्राह्मणों के साथ एक पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं है । सात्वत एक निम्न कोटि की तथा पंचम जाति है । परन्तु यामुनाचार्य⁴ ने इन सभी मतों का खंडन करके पांचरात्र दर्शन की मूल वैदिक दर्शनों में की क्योंकि दोनों के स्रोत एकमात्र नारायण

-
- 1- मॉरिस विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन सिविलिजेशन ।।, पृ०-421.
 - 2- हरिभाउ उपाध्याय, भागवत धर्म । 21, पृ०-325.
 - 3- द्वितीय पंचरात्रे च तन्त्रे भागवते तथा ।
दीक्षितश्च द्विजा नित्यं भवेयुर्गहिता हरे ।।। स्कन्दपुराण । सुरेन्द्रनाथ
दासगुप्त, इण्डियन किलासकी । 31, पृ०-19
 - 4- वैश्यात् तु जायते ब्राह्म्यात् सुधर्माचार्य एव च ।
भारुषश्च निर्दयश्च मैत्र-सात्वत एव च । मनुस्मृति । पृ०-15
 - 5- यामुनाचार्य दत्तवीर शर्मा-डॉ. के एक प्रतिष्ठित दार्शनिक थे जिन्होंने 'आगम-प्रामाण्य' नामक ग्रन्थ की रचना की ।

हैं ।¹ दासगुप्त के अनुसार तात्त्वत जाति पर टिप्पणी करते हुए यामुनाचार्य ने कहा है कि वस्तुतः तात्त्वत ते तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जिनमें तात्त्व गुण अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है ।²

वैसे पांचरात्र धर्म को अवैदिक मानने का एक कारण यह भी रहा होगा कि इसे निम्न जाति तथा विदेशियों ने अधिक स्वीकार किया था और उन्होंने " प्रत्येक व्यक्ति को पूजा, योगाभ्यास या संन्यास का अधिकार प्रदान करके वर्णाश्रम धर्म के प्रतिकूल कार्य किया ।³ श्री राधाकृष्णन् भी जाबाल ब्राह्मण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि किरात और दूज जैसी जातियों के लोग भी विष्णुभक्तों के संतर्ग में आकर पवित्र हो जाते हैं । अतएव पांचरात्र मत्त वर्णाश्रम की उतनी परवाह नहीं करता जितनी स्मार्त एवं वैदिक वा शास्त्रों को मानने वाले व्यक्ति करते हैं ।⁴

पांचरात्र दर्शन का मूल:-

निःसन्देह पांचरात्र एक वैदिक मत्त है जिसका मूल स्रोत ऋग्वेद का पुंस्व सूक्त । 10.90 । है । यहाँ पुंस्व के विराट् स्वस्व एवं उच्यतम निवास-स्थान की अवधारणा प्राप्त होती है । इस सूक्त के ऋषि नारायण हैं । पांचरात्र दर्शन में जिस सर्वातिशायी तत्त्व की कल्पना की गई है, उसे भी नारायण नाम से ही अभिहित किया गया है । भारतीय चिन्तन के अनुसार उपासना की करम अवस्था में साध्य तथा साधक अथवा देवता एवं ऋषि में तादात्म्य स्थापित हो जाता है । इस स्थिति में ऋषि स्वयं को देवता के समान अनुभव करने लगता है । इस दृष्टि से पुंस्व सूक्त में वर्णित पुंस्व तथा ऋषि नारायण अन्ततः एक ही प्रतीत होते हैं । ' नारायणीयसु ' में भी नारायण को ऋषि कहा गया है ।⁵ इन तथ्यों के आधार

1- सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, इण्डियन फिलॉसफी । 31, पृ०- 17.

2- तत्तय तत्त्वाद् भगवान् भज्यते येः परः पुमान् ।
ते तात्त्वता भागवता इत्युच्यन्ते द्विजोत्तमैः ।।। यामुनाचार्य, आगम-प्रामाण्य ।
सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त, इण्डियन फिलॉसफी । 21, पृ०-3542

3- हरिभाद्र उपाध्याय, भागवत धर्म । 21, पृ०-335.

4- राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन । 11, पृ०-459.

5- अनाप्युदाहरन्ती ममिति हार्त पुरातनसु ।
नारदस्य च तस्मादमृषेर्नारायस्य च ।। महा०, 12.321.7

पर पांचरात्र का द्योत पुस्तक सूक्त ही सिद्ध हो जाता है ।

'शतपथ ब्राह्मण' कहता है कि 'पुस्त्यं ह वै नारायणसु'।¹ अर्थात् पुस्त्य ही नारायण है । उसी ब्राह्मण में एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि 'पुस्त्य नारायण' ने पांचरात्र-तत्र । पांचरात्र यजुस्तुसु ।² किया जिसने समस्त विश्व का अतिक्रमण कर वे सर्वभूतमय हो गये । यह एक प्रकार का पुस्त्यमय यजु धातुया इतमें उन वस्तुओं का माहात्म्य था जो पांच प्रकार की थीं । इस तत्र में पांच प्रकार के यजु, पांच प्रकार के पशु, पांच अंतुओं से युक्त वर्ष तथा पांच प्रकार के अध्यात्म थे । श्री दासगुप्त की मान्यता है कि यही त्रै पांचरात्र मा का जन्म हुआ तथा इन्हीं पांच प्रकार के जीवों की कल्पना ने व्यूहवाद को जन्म दिया । सर्वातिशायी ब्रह्म के अवतार की कल्पना भी यही त्रै प्रादुर्भूत हुई ।³ श्री भंडारकर के अनुसार " वातुदेवकृष्ण की उत्पत्ति उस विचारधारा से हुई जो उपनिषदों के साथ प्रारम्भ हुई थी ।"⁴ अतएव यह कहा जा सकता है कि पांचरात्र दर्शन संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषदों के दर्शन का ही विकसित रूप है । इसका एक विशिष्ट सिद्धान्त उपासना में अहिंसा को अधिकाधिक महत्व प्रदान करना था । पांचरात्र का यह वैशिष्ट्य ही उसे ब्राह्मणों की अपेक्षा उपनिषदों के दर्शन के निकटतर सिद्ध करता है । श्रीराधाकृष्णन् भगवत् नाम पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि " हमें वेदों में 'भग' नामक एक देवता का वर्णन मिलता है जिसे वरदान देनेवाला कहा गया है । धीरे-धीरे भग का अर्थ सौजन्य अथवा उदारता हो गया, और संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार ऐसा देवता जिसमें उदारता के गुण उपस्थित हों, भगवत् नाम से जाना जाने लगा ।"⁵ अर्थात् एक उदार देवता के रूप में अब भग की कल्पना होने लगी और ऐसे देवता की उपासना ही भगवत् धर्म हुआ ।

1- शतपथ ब्राह्मण, 14. 3. 4.

2- वही, 13. 6. 1.

3- सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, इण्डियन क्लैसिकल 121, पृ०-537.

4- आर०जी० भंडारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मा, पृ०-11

5- राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन 111, पृ०-453.

पाँचरात्र का नामकरण :-

‘ ईश्वर संहिता ’ के इक्कीसवें अध्याय में कहा गया है कि शाण्डिल्य औपगायन, मौजयन, कौशिक तथा भारद्वाज इन पाँच ऋषियों को मिलाकर पाँच रात्रों में इस मंत्र का उपदेश दिया गया था । ‘ षट्संहिता ’ के अनुसार अन्य पाँच शास्त्र इसके समस्त रात्रि के समान मन्त्रिन पहुँ गये थे फलतः इसका नाम पाँचरात्र हुआ ।

‘ नारद पाँचरात्र ’ में बताया गया है कि रात्र का अर्थ ज्ञान है । इसके अन्तर्गत पाँच विवेच्य विषय आते हैं --- परमात्म, भुक्ति, मुक्ति, योग तथा विषय । अतएव पाँच विषयों का विवेचन करने के कारण ही इसका नामकरण पाँचरात्र हुआ ।¹

‘ नारायणीयम् ’ में भी पाँच प्रकार के ज्ञान का उल्लेख है ।² यह स्पष्ट स्प से विदित है कि ‘ नारायणीयम् ’ के रचनाकाल तक विभिन्न अस्तिक दर्शनों, यथा तैत्तिर्य, योग एवं वेदान्त के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं थी । यही इनके साथ पाँचरात्र तथा पाशुपत को भी सम्मिश्रित कर लिया गया है । इन विभिन्न ज्ञानों को एक माना जाय अथवा अनेक ? इस तन्दम में नारायणीयम् में ही जनमेजय के माध्यम से यह जिज्ञासा प्रकट करायी गई है कि क्या तैत्तिर्य, योग, पाँचरात्र, वेद तथा पाशुपत मंत्र जो कि ज्ञान के प्रमुख प्रकार कहे गये हैं, एकनिष्ठ थे अथवा अनेकनिष्ठ ।³ एकनिष्ठता का तात्पर्य इतिहास एवं तत्त्व दोनों दृष्टियों से लिया जा सकता है । साहित्यिक दृष्टि से इस जिज्ञासा का तात्पर्य यह है कि क्या इन पाँचों ज्ञानविधाओं का प्रतिपाद्य एक ही तत्त्व है ? और यदि ऐसा है तो वह तत्त्व क्या है ? ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्भावना उपस्थित हो सकती है कि इन सम्प्रदायों का प्रतिपाद्य एक है तो इनका मूल भी एक हो सकता है ।

नारायणीयम् के अनुसार पाँचों ज्ञानविधाओं का प्रतिपाद्य एक ही है ।

1- बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ०- 451 .

2- तैत्तिर्य योगी पंचरात्र वेदाः पाशुपत तथा ।

ज्ञानान्यैतानि राजर्षे विद्वि नानाम्नानि वै ॥ महा०, 12. 337. 59.

3- किम्मतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने । वही, 12. 337. 2.

ज्ञान तथा आगम दोनों का तात्पर्य नारायण में ही सिद्ध होता है अन्य किसी को शास्त्रों का प्रतिपाद्य नहीं समझना चाहिए¹। इन सभी ज्ञानों का प्रतिपाद्य ही नहीं मूल भी एक ही है। नारायणीयसु में प्राप्त वर्णन के अनुसार तांद्य के वक्ता कपिल तथा योगशास्त्र के हिरण्यगर्भ हैं; व्यास वेदाचार्य हैं; पाशुपत ज्ञान को स्वयं उमापति शिव ने कहा है तथा पाँचरात्र मत के ज्ञाता स्वयं भगवान नारायण है। पूर्वोक्तलिखित प्रसंग के अनुसार कपिल तथा हिरण्यगर्भ नारायण ही है², व्यास नारायण का छठा अवतार हैं³ तथा शिव भी नारायणात्मक ही हैं⁴। अतएव यह कहा जा सकता है कि नारायणीयसु में ऐतिहासिक तथा तार्किक दोनों दृष्टियों से सभी ज्ञानों का एकनिष्ठ माना गया है। वस्तुतः तब देवों और धर्मों के श्लाघायुक्त समन्वय का श्रेय पाँचरात्र भागवतों के महान् आन्दोलन को था। पाँचरात्र, एकायन या एकान्तिन, नारायणीय, तात्त्वत, भागवत आदि नामों से एक ही विराट वैष्णव-आन्दोलन लोक में फैल रहा था⁵।

नारायणीयसु में प्रतिपादित पाँचरात्र धर्म तथा दर्शन =====

पाँचरात्र शास्त्र :-

यहाँ एक पाँचरात्र शास्त्र का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसे परम्परा से ऋषियों एवं राजा उपरिचर वसु ने प्राप्त कर लोक में इसका प्रचार किया। मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु एवं वसिष्ठ ये सात ऋषि सप्त प्रकृति के रूप में विख्यात हैं। आठवें त्वायम्भुव मनु मूल प्रकृति हैं⁶। ये एकाग्रचित्त, संयमी तथा

- 1- यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः ।
न चैनमेव जानन्ति तमोभक्ता विशां यते ॥
तमेव शास्त्रकर्तारं प्रवर्तन्ति मनीषिणः ।
निष्ठा नारायणमूर्ध्नि नान्योद्गस्तीति च वादिनः ॥ महा०, 12. 337. 64-65.
- 2- वही, 12. 326. 64-65.
- 3- वही, 12. 337. 4.
- 4- वही, 12. 330. 64.
- 5- हरिभाऊ उपाध्याय, भागवत धर्म 121, पृ०-328.
- 6- नीलकण्ठ के अनुसार ये सप्तप्रकृति महत्, अर्हजारादि हैं तथा मनु मूल प्रकृति हैं। शास्त्रों के लिए महत् का कर्तृत्व आदि उपादेय है अतएव शास्त्रों में यही वर्णित है। महा० 1 क०सं० 1 पाठ टिप्पणी, 12. 335. 30.

जितेन्द्रिय हैं । इन्होंने ही समस्त विश्व को धारण किया है । इनसे ही सभी शास्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं ।¹ इन ऋषियों ने एकता होकर एक शास्त्र की रचना की । इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा युलोक एवं पृथ्वीलोक में प्रतिपादित विभिन्न मर्यादाओं का विवरण था ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार " ईरानी धर्म की मान्यता है कि एक अहुरमज्द ने सात अमेसस्पेन्द या अमृत आत्माओं का निर्माण किया । उन्हें संस्कृत भाषा में चित्रशिखण्डिनः कहा गया है ।-- संस्कृत चित्र ईरानी चित्र का रूप है जिसका अर्थ पुत्र होता है । अमिष का अर्थ है अमृत और स्पेन्द का अर्थ श्वेत, अमृत का श्वेत देवता ² ये सातों देवता हैं -- अहुरमज्द । हरिमेध । वाहुमन । वसुमनस् । अर्द वहिश्त । शत वतिष्ठ । शतवेरो । क्षत्रवीर । स्पेन्दर मद् । श्वेतामृत । दीर्घदद । स्वरतात् । तथा अमेरोदद । अमृतात् । ।

डा० अग्रवाल के अनुसार " इन सातों की सूची में अहुरमज्द को प्रथम स्थान दिया गया है, जैसे वैदिक मंत्र में अंगिरा को सात ऋषियों में मुख्य माना गया है ---- भारतीय लेखक ने ब्रह्मा जी के पुत्र सात आंगिरस ऋषियों को सप्त चित्रशिखण्डियों के समकक्ष रखा है ।³ उपर्युक्त मान्यता तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती क्योंकि नारायणीयसु में इस प्रकार का कोई उद्धरण नहीं प्राप्त होता जिसके आधार पर अंगिरस ऋषियों को चित्रशिखण्डी ऋषियों के समकक्ष रखा जाय । पुनः यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि सातों देवताओं के जो संस्कृत नाम दिये गये हैं वे वस्तुतः अंगिरा ऋषियों के ही नाम हैं या अन्य के । ये नाम अन्यत्र प्राप्त भी नहीं होते । चित्रशिखण्डी ऋषियों पर अमेसस्पेन्द देवताओं का भी कलात् आरोपण उचित नहीं है । फलतः ये मान्यतायें सारहीन लगती हैं ।

1- महा० । पूना सं० ।, 12. 322. 27, 28.

2- वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत सावित्री 131, पृ०- 197-198.

3- वही, पृ०- 198 .

नारायणीयम् में कहा गया है कि इन चित्रशिखण्डी ऋषियों ने हजार दिव्य वर्षों तक नारायण की आराधना की। स्वस्वस्व प्रसन्नमना नारायण की आज्ञा से सरस्वती ने इन सप्तर्षियों के हृदय में प्रवेश किया। ऋषियों ने शब्द, अर्थ एवं हेतु विषय में प्रथम सृष्टि के लिए मर्यादा प्रवर्तन किया। इन्होंने ओंकारस्वर से पुस्तक इस शास्त्र को सर्वप्रथम नारायण के निवास-स्थान पर सुनाया। नारायण ने आशीर्वाद दिया कि एक लाख श्लोकों का यह ग्रन्थ ही लोक में धर्मप्रवर्तन करेगा।¹ यह ग्रन्थ चारों वेदों के मन्त्रों से प्रमाणित होकर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों मार्गों का मूल आधार होगा। नारायण की आज्ञा ही इस ग्रन्थ के लिए प्रमाणस्वत्व होगी। स्वयं स्वायम्भुव मनु इस शास्त्र से धर्मप्रवर्तन करेंगे।² नारायण के इस कथन से यह प्रबल होता है कि स्मृतियों का आधार भी पांचरात्र है। इसके साथ ही यह कहने का भी प्रयास किया गया है कि पांचरात्र धर्म स्वस्थतः वैदिक है अवैदिक नहीं।

नारायण ने यह भी कहा कि भविष्य में उत्पन्न शुक्राचार्य तथा बृहस्पति ही इस शास्त्र के प्रवक्ता होंगे। मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र तथा शुक्राचार्य एवं बृहस्पति द्वारा रचित शास्त्र जब मर्त्यलोक में प्रचलित होंगे ³ तभी राजा उपरिचर वसु इस शास्त्र को बृहस्पति से प्राप्त करेंगे।³ राजा वसु नारायण के परम भक्त होंगे तथा अपने सभी लौकिक कर्मों को शास्त्रविधि के अनुसार ही करेंगे। धर्म, अर्थ एवं यश का प्रदाता यह सर्वोत्तम सनातन शास्त्र राजा वसु की मृत्यु के पश्चात् लुप्त हो जायगा।⁴ इस भविष्यकथन के उपरान्त नारायण ने किसी अनिर्दिष्ट स्थान की ओर प्रस्थान किया। तत्पश्चात् वे लोकपिता सप्तर्षि विषय में इस शास्त्र का प्रचार करने लगे। प्रथम कल्प में जब अंगिरा से बृहस्पति उत्पन्न हुए तब उन्होंने सांगोपांग वेद, उपनिषद् एवं यह शास्त्र राजा वसु को पढ़ाया। डा० अग्रवाल के अनुसार यह शास्त्र महाभारत था --। जो अद्वय नारायण थे उन्होंने व्यास के

-
- 1- कूर्तं शतसहस्रं हि लोकानामिदमुत्तमम् ।
लोकान्तरस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्तते ॥ महा०, 12. 322. 36.
 - 2- वही, 12. 322. 41.
 - 3- वही, 12. 322. 44.
 - 4- वही, 12. 322. 48.

स्व में शरीर धारण कर इस शास्त्र का निर्माण किया ।¹ यह मान्यता इस स्व में ग्राह्य नहीं हो सकती क्योंकि महाभारत में इस शास्त्र के रचयिता व्यास नहीं अपितु चित्रशिखिण्डि बताये गये हैं । वस्तुतः 'शतसाहस्री संहिता' पद कालान्तर में महाभारत के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ नारायणीयसु में समस्त महाभारत के किसी पूर्वस्व की कल्पना निहित है जिसके अनुसार चित्रशिखिण्डियों के द्वारा एक लाख श्लोकों का एक ग्रन्थ रचा गया जो कालान्तर में लुप्त हो गया । व्यास द्वारा रचित महाभारत सम्भवतः उसी शास्त्र का अभिनव संस्करण है ।

राजा वसु इस शास्त्र को प्रमाण मानकर अपने सभी कार्य सात्वत विधि से करते थे ।² उनकी मृत्यु के उपरान्त यह शास्त्र लुप्त हो गया । इसमें एक लाख श्लोक होना मात्र संकेतात्मक प्रतीत होता है जो वस्तुतः ग्रन्थ के बृहदाकार को निरूपित करता है । लुप्त होने के पश्चात् भी इस "चित्रशिखिण्डि" शास्त्र का ज्ञान श्रुति-परम्परा से श्रद्धियों के अन्तर्गत में सुरक्षित रहा । इस सन्दर्भ में अनेक श्रद्धि-परम्परारथें प्राप्त होती हैं । नारायणीयसु के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पांचरात्र मत्त का प्रवर्तन स्वयं नारायण ने किया । तदुपरान्त एक परम्परा नारद से एवं दूसरी ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई ।

पांचरात्र धर्म :-

पांचरात्र मत्त का ज्ञान सर्वप्रथम नारद ने नारायण से श्वेतद्वीप में प्राप्त किया । चारों वेदों तथा सांख्य-योग के ज्ञान-विज्ञान से युक्त यह पांचरात्र नामक महोपनिषद् था ।³ तत्पश्चात् नारद ने ब्रह्मा के निवास-स्थान पर एकत्र स्थित समुदाय को वेदसदृश यह प्राचीन शास्त्र सुनाया । पारम्परिक स्व से यह ज्ञान सिद्धों से सूर्य को, सूर्य से उसके अनुगामी साठ हजार श्रद्धियों को, श्रद्धियों से सुमेरु

1- वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत-सावित्री 131, पृ०-199.

2- काम्यनैमित्तिकाजम् यज्ञिया परमक्रियाः ।

सर्वाः सात्वतमन्त्रास्थाय विधिं यज्ञेन समाहितः ॥ मत्तो, 12. 322. 23.

3- इदं महोपनिषदं यतर्ह्येतमन्वितम् ।

सांख्ययोगकृत् तेन पांचरात्रानुशब्दितम् ॥ मत्तो, 12. 326. 100.

पर्वत पर रहकर देवताओं को, देवताओं से मुनिब्रह्म अस्ति को तथा अस्ति से पितरों को प्राप्त हुआ था । पुनः पाँचरात्र विषयक यह ज्ञान भीष्म ने शान्तनु से प्राप्त कर युधिष्ठिर को सुनाया ।¹ दूसरी परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के प्रत्येक जन्म में नारायण उन्हें यह ज्ञान प्रदान करते थे और प्रत्येक बार यह लुप्त हो जाता था । यह क्रम सात बार चला । अन्त में यह पाँचरात्र ज्ञान नारायण में समाहित हो गया ।²

जब नारायण के मुख से ब्रह्मा का जन्म हुआ तब स्वयं नारायण ने उन्हें यह ज्ञान प्रदान किया । ब्रह्मा से यह धर्म केन्य ऋषियों ने, केन्यों से वैशानस ऋषियों ने तथा वैशानसों से सीम ने प्राप्त किया । तत्पश्चात् यह धर्म लुप्त हो गया । ब्रह्मा का दूसरा जन्म वासुख जन्म था जिसमें उन्होंने यह ज्ञान सीम से प्राप्त कर रुद्र को प्रदान किया । पुनः तत्पुनः में जब रुद्र ने योग धारण किया तब उन्होंने यह ज्ञान बालशिल्प्य ऋषियों को दिया । तदनन्तर यह धर्म लुप्त हो गया । ब्रह्मा के इस जन्म में उन्होंने ज्ञान नारायण से नहीं अपितु सीम से प्राप्त किया । ब्रह्मा के वाचिक नामक तीसरे जन्म में यह धर्म पुनः नारायण के मुख से प्रकट हुआ । तुषर्ग ऋषि ने अत्यधिक तपस्या, दम तथा नियम का आचरण कर स्वयं नारायण से यह ज्ञान प्राप्त किया । वे प्रतिदिन तीन बार इस धर्म की आवृत्ति करते थे । इसीलिए इसे 'त्रितीपरी व्रत' कहा गया है ।³ इस व्रत का ऋग्वेद में भी उल्लेख है । जगत् के प्राणस्वस्य वायु ने इसे ऋषि तुषर्ग से ग्रहण करके इस उत्तक प्रचार किया । वायु से विद्यशास्त्री ऋषियों ने एवं विद्यशास्त्री ऋषियों से यह ज्ञान समुद्र ने प्राप्त किया । पुनः नारायण में समाहित होकर यह धर्म लुप्त हो गया । ब्रह्मा के अनाहत ध्वनि स्पी ब्रवणज जन्म में नारायण ने सृष्टि-रचना की कामना से किसी ऐसे पुरुष का चिन्तन किया जो जठात् को उत्पन्न करने में समर्थ हो । फलस्वस्य नारायण के दोनों कानों से प्रजाओं के जन्मदाता ब्रह्मा

1- महा०, 12. 326. 101-111.

2- वही, 12. 336, 13-48.

3- वही, 12. 336. 19

उत्पन्न हुए । नारायण ने उन्हें आदेश दिया कि 'तुम अपने अंगों से समस्त प्रजा को उत्पन्न करो' । मैं तुममें कल, तेज एवं कल्याण का आधान करूँगा । तुम मुझसे सात्वत धर्म ग्रहण कर उससे विध्यनुसार समस्त कृत्युग को स्थापित करो' । ब्रह्मा ने नारायण के मुख से आरण्यक, रहस्य एवं संग्रह के साथ प्रकट इस ज्ञान की प्राप्ति किया । तदुपरान्त नारायण तमोगुण से परे निष्काम कर्म नामक उस अव्यक्त स्थान में चले गये जहाँ वे पहले से निवास करते थे । सतयुग में ब्रह्मा ने पाँचरात्र विषयक यह ज्ञान स्वारीषिष मनु को, मनु ने अपने पुत्र शंखपद को एवं शंखपद ने अपने पुत्र दिक्षपाल सुधर्म को प्रदान किया । त्रैतायुग के उपस्थित होने पर यह धर्म पुनः लुप्त हो गया ।

ब्रह्मा के नासिक्य जन्म में नारायण ने स्वयं उनके तन्मुख इस धर्म का वर्णन किया । ब्रह्मा ने सनत्कुमार को, सनत्कुमार ने प्रजापति वीरण को, वीरण ने रौप्य मुनि को तथा रौप्य ने अपने पुत्र दिक्षपाल कुक्षि को यह ज्ञान प्रदान किया । तत्पश्चात् यह धर्म पुनः लुप्त हो गया । जब ब्रह्मा ने अण्डज जन्म लिया तो पुनः यह नारायण के मुख से प्रकट हुआ । नारायण से ब्रह्मा ने, ब्रह्मा से बर्हिषद ऋषियों ने और बर्हिषद ऋषियों से सामवेद के गायक ज्येष्ठ नामक ब्राह्मण ने इसे प्राप्त किया इसीलिए इसे 'ज्येष्ठसाम्भुत' भी कहते हैं । ज्येष्ठ ने इसे राजा अविकम्पन को प्रदान किया । इसके बाद यह धर्म लुप्त हो गया । ब्रह्मा का सातवाँ जन्म कमल से हुआ । नारायण ने स्वयं इस धर्म का कथन उनके लिए किया । ब्रह्मा ने दक्ष को, दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दीहित्र विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को एवं मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को यह धर्मोपदेश दिया । इक्ष्वाकु ने समस्त लोक में इसका प्रचार किया । वैशम्पायन का कहना है कि इस प्रकार लोक में प्रचलित होकर यह धर्म अन्ततोगत्वा लुप्त तथा नारायण में समाहित हो जायँगा । पाँचरात्र ज्ञान का बार-बार लुप्त होना इसकी रहस्यात्मकता की निर्देशित करता है । इससे स्पष्ट है कि योग की तकनीक को प्रत्येक व्यक्ति नहीं जान सकता ।

ब्रह्मा के सातवें जन्म के समय पांचरात्र शास्त्र की जो परम्परा बतायी गयी है, वहीं परम्परा भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में भी विवस्वान् से उपलब्ध है।¹ वहाँ इस पुरातन योग का वर्णन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से किया है। उनसे पूर्व इस राजर्षियों ने जाना था परन्तु पुराकाल में ही यह नष्ट हो गया था। नारायणीयसु में भी कहा गया है कि महाभारत युद्ध के समय अर्जुन के अन्यमनस्क होने पर भगवान् ने स्वयं इस धर्म का उपदेश दिया था।² इसी अध्याय में अन्यत्र यह भी प्रसंग उल्लिखित है कि प्रतियों का यह धर्म पहले ही संक्षिप्त रूप में 'हरिगीता' में कहा जा चुका है।³ यह महान धर्म नारद ने साक्षात् नारायण से प्राप्त कर पुथिष्ठिर तथा व्यास को सुनाया था।⁴ इससे स्पष्ट है कि दोनों परम्पराओं में पांचरात्र धर्म का प्रवर्तन लोक में नारद से ही हुआ है। इससे नारद पांचरात्र धर्म के प्रमुख प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त विवरण के आधार पर दो सम्भावनायें प्रकट की जा सकती हैं। प्रथम, भगवद्गीता में प्रतिपादित भागवत धर्म एवं नारायणीयसु के पांचरात्र धर्म में अन्तिम ब्रह्म-परम्परा समान है। दूसरी, हरिगीता ही सम्भवतः भगवद्गीता है। इन सभी सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए प्रीतिलक यह मत प्रकट करते हैं कि "गीता का योग अर्थात् कर्मयोग भागवत धर्म का है। विस्तारभय से वहाँ सम्प्रदाय-परम्परा सृष्टि के प्रारम्भ से नहीं दी गई है बल्कि ब्रह्मा के सातवें जन्म के बाद की परम्परा में से विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु का नामोल्लेख कर दिया गया है।"⁵

तिलक के अनुसार गीता में महाभारत युद्ध से पूर्व त्रेता युग तक की ही भागवत धर्म की परम्परा वर्णित है। यह भागवत धर्म ही कर्मयोग है। मनु को उपदिष्ट इस कर्मयोग का वर्णन न केवल गीता में प्रदत्त भागवतपुराण 18.24.55 में भी प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण के सावनवें अध्याय में इसका महत्त्व भी बताया

-
- 1- इमं विवस्वते प्रोक्तवानहमव्ययसु ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाक्येऽब्रवीत् ॥ भगवद्गीता, 4. 1.
 - 2- समुदेवनीकेषु कुत्साण्डवयोमृष्टे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवतास्वयसु ॥ महाO, 12. 336. 8.
 - 3- प्रतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्व न्योत्तम ।
कथितो हरिगीतातु समासविधिकल्पितः ॥ महा, 12. 336. 50.
 - 4- लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, पृ०-704.
 - 5- महाO, 12. 336. 11-12.

गया है । परन्तु इनमें से कोई भी वर्ण नारायणीयोपाख्यान में उपलब्ध वर्ण के समान पूर्ण नहीं है ।¹ तिलक यह भी मानते हैं कि विवस्वान्, मनु तथा ब्रह्माकु की यह परम्परा सांख्यमार्ग के अनुकूल नहीं प्रतीत होती । यह परम्परा तो कर्मयोग की है । सांख्य एवं योग परम्पराओं के एक न होने पर भी कर्मयोग अर्थात् भागवतधर्म के निष्पन्न में ही सांख्य या तन्व्यातनिष्ठा का पर्याय से समावेश हो जाता है ।² यहाँ तिलक के भा का आशय यह प्रतीत होता है कि पांचरात्र और कर्मयोग की परम्परा एक ही है । परन्तु उनके द्वारा दी गई कर्मयोग की परिभाषा दोनों परम्पराओं को एक सिद्ध करने में कोई सहायता नहीं प्रदान करती । तिलक के अनुसार सांख्य तथा निष्काम कर्म को संयुक्त कर देने से कर्मयोग का मार्ग निश्चित होता है ।³ परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि नारायणीयसु का मार्ग निष्काम कर्मयोग का ही मार्ग है । गीता में कृष्ण ने अर्जुन को फलासक्ति से रहित होकर कर्म करने का स्पष्ट आदेश दिया है ।⁴ यहाँ ऐसा कोई प्रसंग नहीं प्राप्त होता ।

वस्तुतः नारायणीयसु प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों मार्गों का प्रतिपादन करता है । प्रथम श्लोक में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यह पांचरात्र प्रवृत्तिमार्गियों के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि निवृत्ति मार्गियों के लिए । एक स्थल पर जनमेजय ने प्रश्न किया है कि नारायण ने किस प्रकार देवताओं को " प्रवृत्तिधर्म-भागाई " किया है तथा कैसे विषयों से विरक्त एवं " निवृत्तिधर्मनारायण " बनाया है ।⁵ यह-सम्बन्धी प्रश्नों के पूछे जाने पर नारायण ने देवताओं से कहा कि उनके द्वारा कल्पित सम्पूर्ण यज्ञभाग उनके निज उपस्थित हैं । अब वह आवृत्तिलक्षणयुक्त फल प्रदान करेंगे । इससे देवता युग-युग

- 1- लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, पृ०-704.
- 2- वही, पृ०- 705 .
- 3- वही, पृ०- 489 .
- 4- एतान्यपि तु कर्माणि संन्यज्य त्वत्कामानि च ।
कृतव्यानीति मे पार्थ निश्चिन्त मा मुत्तिमसु ॥ भगवद्गीता, 18.6.
- 5- महा०, 12. 327. 23.

तक प्रवृत्तिफलभीगी होने ।¹ तांड्य, योग आदि केवल निवृत्तिमार्गियों के लिए हैं । परन्तु पांचरात्र निवृत्तिमार्गी तथा प्रवृत्तिमार्गी दोनों के लिए है । यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो जीव जिस प्रकार जिस कर्म में उत्पन्न हुआ है, प्रवृत्ति या निवृत्ति मार्ग में अवज्ञ होकर वह उसके फल का भोग करता है ।² दूसरे शब्दों में, प्रवृत्ति या निवृत्ति मार्ग का निर्धारण भी पूर्वजन्म के कर्मफलों पर निर्भर होता है । नारायण ने ही अध्याधर्मियों को गतिस्थ निवृत्ति को धारण किया है तथा लोक की विचित्रता को चित्रित करके प्रवृत्ति धर्म का भी विधान किया है । एक स्थल पर कृष्ण ने कहा है कि मैं निवृत्तिलक्षण एवं अभ्युदयिक धर्म भी जानता हूँ । वस्तुतः प्रवृत्तिमार्गी पुरुष राजसी एवं तामसी प्रकृतियों के मिश्रण से उत्पन्न होता है । नारायण मोक्ष के लिए उसे देखो भी नहीं ।³ ब्रह्मा इन्हें प्रवृत्तिमार्ग में नियुक्त करते हैं ।³ इस प्रकार पांचरात्र धर्म निवृत्ति को श्रेष्ठ मानते हुए भी प्रवृत्तिमार्गी है । इसीलिए यहाँ पर दैव तथा पितृकर्म का विशद वर्णन है । भागवत धर्म से सम्बद्ध होने के कारण गीता तथा नारायणीयसु में प्रतिपादित विषय में समानता हो सकती है परन्तु दोनों अभिन्न हैं, यह कहना कठिन है ।

तिलक के अनुसार भागवत धर्म का मूल एवं प्राचीनत्वस्य नारायणीयसु में प्राप्त होता है "क्योंकि भागवतपुराण । 1.3.24 । एवं नारद-पांचरात्र । 4.3.156-159; 4.8.81 । ग्रन्थों में बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा है परन्तु नारायणीयोपाख्यान में बुद्ध का समावेश नहीं किया गया है -- पहला अवतार हंस का और आगे कृष्ण के बाद एकदम कल्कि अवतार बताया गया है ।⁴ अतएव नारायणीयसु इन तीनों ग्रन्थों में प्राचीनतम है । इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उपनिषद्ओं के पश्चात् तथा बुद्ध से पूर्व वासुदेवभक्ति सम्बन्धी भागवत धर्म का उदय हुआ ।⁵ तिलक के अन्तिम निष्कर्ष पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती । परन्तु नारायणीयसु को गीता से प्राचीन सिद्ध करना उचित नहीं प्रतीत होता ।

1- MHTO, 12.327.52, 53.

2- वही, 12.327.68.

3- वही, 12.327.71-72.

4- लौकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, पृ०-571 .

5- वही, पृ० 572 .

निस्तन्देह पांचरात्र सम्प्रदाय भागवत धर्म की ही विकसित परम्परा का ही एक रूप है । यदि यह भगवद्गीता से प्राचीन होता तो इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'व्यूहवाद' भगवद्गीता के विद्वान रचयिता की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ होता ।

भगवद्गीता में प्रतिपादित भागवत धर्म ही पूर्वकाल में पांचरात्र धर्म के नाम से विख्यात रहा है, 'ऐसा कोई उल्लेख गीता में नहीं प्राप्त होता । इसके विपरीत नारायणीयसू में कई स्थलों पर यह उल्लेख है कि यह उपदेश भगवद्गीता में कृष्ण ने अर्जुन को प्रदान किया था । भगवद्गीता दार्शनिक है, परन्तु नारायणीयसू में दार्शनिक विचारों के साथ-साथ भागवतधर्म से छ जुड़े हुए पौराणिक आख्यान भी हैं । गीता में केवल निष्काम कर्मयोग है, जबकि नारायणीयसू निवृत्तिमूलक होने पर भी प्रवृत्तिधर्मानुसारी है । नारायणीयसू में आखानों की उपस्थिति उसे तुलनात्मक दृष्टि से अपाचीन सिद्ध करने में सहायता प्रदान करती है क्योंकि यदि संहिताओं को अपवाद रूप में छोड़ दिया जाय तो संस्कृत साहित्य में यह प्रवृत्ति रही है कि मूल ग्रन्थ के क्लेश में रौचक, उपदेशात्मक आखानों से वृद्धि की जाय । यह कार्य इतनी कुशलता से किया जाता था कि पाठक ग्रन्थ का स्वल्प भेद करने में नितान्त असमर्थ हो जाता था ।

सृष्टि :-

सृष्टि-प्रक्रिया को समझाने के लिए यहाँ पौराणिक कथा एवं दार्शनिक प्रक्रिया दोनों की सहायता ली गई है । सृष्टि-प्रक्रिया के लिए ही पांचरात्रिकों ने 'व्यूहवाद' नामक नवीन सिद्धान्त की स्थापना की ।

पौराणिक आख्यान :-

ब्राह्म रात्रि के समाप्त होने पर नारायण की कृपा से एक कमल उत्पन्न हुआ, कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ । इसी प्रकार ब्राह्म दिवस की समाप्ति पर उस क्रोधाविष्ट देव नारायण के कलाट से संहारकारी रुद्र की उत्पत्ति हुई ।

1-

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, पृ०- 571

नारायण के आज्ञानुसार यही दोनों देव सृष्टि एवं संसारकर्म में प्रवृत्त होते हैं । वस्तुतः लोक की सृष्टि तथा संसार के वास्तविक कारण तो नारायण ही हैं । ब्रह्मा तथा सृष्ट तो निमित्तमात्र हैं ।¹ एक अन्य आख्यान के अनुसार नारायण के मन में सृष्टिकर्म की अभिलाषा उत्पन्न हुई । इस विचार के पश्चात् उन्होंने आत्मगुणस्वल्प महत् आत्मा का स्मरण किया । महत् से अहंकार का जन्म हुआ । यह अहंकार ही हिरण्यगर्भ, लोकपितामह, चतुर्मुख ब्रह्मा हैं । अनिरुद्ध से उत्पन्न होकर ब्रह्मा हजार पत्तोंवाले कमल में अवस्थित हुए । उनसे पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई ।² इस प्रकार सृष्टि प्रारम्भ हुई । सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी एक अन्य आख्यान के अनुसार ब्रह्मा के सातवें जन्म के समय शुभाशुभरहित महायोगी नारायण ने अपनी नाभि से उन्हें उत्पन्न किया । जन्मोपरान्त ब्रह्मा ने नारायण से जड़-चेतनमय समस्त सृष्टि की रचना का आदेश प्राप्त किया । ब्रह्मा ने अपनी अतर्क्यता व्यक्त करते हुए नारायण से निवेदन किया कि इतने महान् कार्य के निमित्त उनमें बुद्धि का अभाव है । भगवान् ने बुद्धि का चिन्तन किया, एवं उसके उपस्थित होने पर उसे योगसम्यग्जन बनाया । तत्पश्चात् उन्होंने लोकसृष्ट्यर्थं बुद्धि को ब्रह्मा में प्रवेश करने की आज्ञा दी । ब्रह्मा बुद्धि की सहायता से सृष्टिकर्म में प्रवृत्त हुए ।³

चतुर्व्यूह सिद्धान्त :-

नारायणीयस्य में सृष्टि सम्बन्धी विचार के साथ ही पांचरात्रिकों का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह सिद्धान्त भी मिलता है । इससे पूर्व कहीं भी इस सिद्धान्त का उल्लेख नहीं प्राप्त होता । स्वायम्भुव मन्वन्तर के ततयुग में धर्म के गृह में नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए ।⁴ व्यूहवाद का सिद्धान्त केवल नारायण के साथ संयुक्त है । नारायण ही वासुदेव हैं । उनसे संकषी अथवा जीव, जीव से प्रद्युम्न या मन तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अथवा अहंकार की उत्पत्ति

1- महाO, 12. 328. 15-27.

2- वही, 12. 335. 18-20.

3- वही, 12. 337. 17-26.

4- वही, 12. 321. 8-9 .

होती है ।¹ यहाँ अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति बतायी गई है । परन्तु कुछ स्थलों पर अनिरुद्ध अथवा अहंकार को ही ब्रह्मा कहा गया है ।² ब्रह्मा ही नारायण के आदेश से सृष्टिकर्म में प्रवृत्त होते हैं । नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण के उत्पत्ति-विषयक श्लोक के अन्त में 'सातपलेकर' तथा 'पूना' के संस्करण में 'तथैव च' शब्द अक्षर हैं जबकि 'कलकत्ता' संस्करण में 'स्वयम्भुवः' पद का प्रयोग हुआ है । इसी आधार पर नीलकण्ठ अपनी टीका में कहते हैं कि नर आदि चारों का जन्म स्वयं होने से व्यूहवाद का मूल खण्डित हो जाता है क्योंकि वहाँ क्रमशः एक से दूसरे की उत्पत्ति बतायी गई है ।³ नीलकण्ठ का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता । 'व्यूहवाद' केवल वासुदेव से सम्बद्ध है । वस्तुतः वासुदेव नारायण अथवा विष्णु का अवतार माने गये हैं ।⁴ हरि तथा कृष्ण नारायण की ही स्वीकार्य हैं । नर तथा नारायण में भेदीभाव भी माना जा सकता है क्योंकि इन्होंने ही अर्जुन तथा कृष्ण के रूप में अवतार लिया था ।⁵ अतएव ये सभी ईश्वर के विभिन्न नाम हैं । नीलकण्ठ के मतानुसार नर, हरि तथा कृष्ण ही संकषेण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं । उनकी यह मान्यता निराधार प्रतीत होती है क्योंकि ऐसा उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता ।

नारायणीयसु में ही कहा गया है कि हरि एवं कृष्ण किसी कारण से हट गये ।⁶ नर से नारायण की भिन्नता ही है । फलस्वरूप तात्त्विक दृष्टि से एकमात्र नारायण ही वासुदेव है यहाँ शेष रह जाते हैं एवं व्यूहवाद का सिद्धान्त केवल उन्हीं से जुड़ा हुआ है । व्यूहवाद का प्रारम्भिक रूप यहीं प्राप्त होता है । कुछ विद्वानों ने नारायण तथा वृष्णिकुलनाथक वासुदेव को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हुए यह मान्यता प्रकट की है कि पाँचरात्र वासुदेव के उपासक थे । सिद्धान्तों के परस्पर प्रभावित होने से दोनों उपास्यों नारायण एवं वासुदेव को भी एक कर दिया

1- अस्मिन्भूतिश्चतुर्थी या सातुज्येषमध्ययसु ।

त हि संकषेण प्रोक्तः प्रद्युम्नं तौड्यजीवन्तु ॥

प्रद्युम्नादनिरुद्धोद्भूतं तर्णं मम पुनः पुनः ।

अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तत्रादिकमलोद्भवः ॥ म्हा०, 12. 326. 68, 69.

2- वही, 12. 335. 15-16.

3- म्हा०, क०सं०, पाद टिप्पणी, 12. 324. 9.

4- वही, 12. 339. 103, 104.

5- म्हा० पूना सं०, 12. 338. 33.

6- वही, 12. 321. 18.

गया ।¹ परन्तु यह तर्क उचित नहीं प्रतीत होता । वासुदेवकृष्ण का व्यक्तित्व बहुआयामी तथा अलौकिक था इसीलिए उनके व्यक्तित्व में अवतार, ईश्वर, योद्धा आदि सभी रूप एकीकृत हो गये । उन्हें नारायण से भिन्न स्वीकार करना संभव नहीं प्रतीत होता । व्यूहवाद के विषय में यह वर्णन प्राप्त होता है कि " हरि कभी-कभी एक व्यूह से तत्पन्न दिखाई पड़ते हैं तो कभी दो व्यूहों, कभी तीन व्यूहों तथा कभी चार व्यूहों से ।"² वस्तुतः यह श्लोक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करता है जो स्पष्ट करता है कि व्यूहवाद नारायण की प्राप्ति में एक साधन है । साध्य एकमात्र नारायण हैं न कि व्यूहों में विभक्त उनकी आकृतियाँ ।

सृष्टि प्रक्रिया :-

अन्य दर्शनों की भाँति यहाँ भी सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय का विस्तृत वर्णन है । प्रलयकाल में पृथ्वी जल में विलीन हो जाती है । जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में, मन परमभूत अव्यक्त में तथा अव्यक्त निष्क्रिय पुरुष ब्रह्म में लीन हो जाता है । ब्रह्म से परे कुछ भी शेष नहीं है ।³ एक अन्य अध्याय में भी प्रलयकाल में समस्त सृष्टि के विलीन होने का प्रसंग वर्णित है । यहाँ मन का व्यक्त में, व्यक्त का अव्यक्त में, अव्यक्त का पुरुष में एवं पुरुष का परब्रह्म में लय बताया गया है ।⁴ अतएव यहाँ व्यक्त तथा पुरुष नामक दो और सत्ताओं का उल्लेख किया गया है । वस्तुतः ये आत्यन्तिक सत्ता की विभिन्न स्थितियाँ हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न तंत्राओं से यहाँ अभिविहित किया गया है । मूल तथ्य तो यह है कि अन्ततः वह एकमात्र परमार्थ सत्य अवशिष्ट रह जाता है । यह सत्य अज्ञान के आवरण से अपिहित रहता है । इसीलिए प्रलयकाल में सर्वत्र अंधकार दृष्टिगोचर होता है । पुनः जब सृष्टि प्रारम्भ होती है तब इसी अंधकार से ब्रह्म प्रकट होता है । वही अनिष्ट, प्रधान, अव्यक्त एवं त्रिगुणात्मक है । पुनः सृष्टिकाल में

1- राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन ।।।, पृ०- 452, 453.

बाल गंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, पृ०-593.

हरिभाऊ उपाध्याय, भागवत धर्म । 21, पृ०-284.

2- एकव्यूह विभागो वा द्विव्यूहसंज्ञितः ।

त्रिव्यूहश्चापि त्र्युपातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ।। महा०, 12. 336. 53.

3- वही, 12. 326. 28-30.

4- वही, 12. 335. 12-15.

पृथ्वी, आकाश, वायु, जल तथा अग्नि इन पंच महाभूतों के संयुक्त होने पर ही भौतिक शरीर का निर्माण होता है। तत्पश्चात् इसमें शीघ्र ही तत्पराक्रम या शरीर युक्त ब्रह्म प्रवेश कर जाता है। धातुओं के संघात के बिना शरीर की रचना नहीं होती तथा जीव के बिना धातु प्रयास नहीं कर सकते। धातुओं का तात्पर्य यहाँ महाभूतों से है। यह जीव ही शेष, संकल्प एवं प्रभु है। मुक्त पुरुष इसे ही प्राप्त करते हैं। संकल्प से प्रधुम्न की उत्पत्ति होती है। यह अपने कर्मों से सनत्कुमारत्वं अर्थात् मुक्त गति को प्राप्त करता है। यही मन है जिसमें प्रलयकाल में सभी प्राणी लय प्राप्त करते हैं। प्रधुम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। यही ईशान है। यही कर्ता, कार्य एवं कारण है। इसी से तत्पूनी संसार उत्पन्न होता है। अनिरुद्ध ही सभी कार्यों में व्यक्त स्व से वर्तमान रहता है। यही अहंकार एवं महेश्वर कहलाता है।¹

यहाँ वासुदेव को ही संकल्प कहा गया है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्म को ही जीव बताया दिया गया है। इससे भिन्न कृत्यैहवाद के अनुसार वासुदेव से संकल्प की उत्पत्ति मानी गई है। स्थूल स्व से दोनों कथनों में भेद है परन्तु ब्रह्म अवलोकन के पश्चात् यह वैभिन्न समाप्त हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में वासुदेव से संकल्प की उत्पत्ति बताई गई है। स्वभावतः प्रलयकाल में संकल्प वासुदेव में विलीन हो जाता होगा। जीव के ईश्वर में प्रवेश करते ही केवल ईश्वर शेष रह जाता है। फलतः दोनों में संकात्म्य स्थापित हो जाता है। अन्य वैदिक दर्शन भी यह स्वीकार करते हैं कि जीव के मुक्त होते ही उसमें तथा ब्रह्म में अमिद प्रतीति होने लगती है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"² अथवा "ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभिष्टुति।"³ श्वेतदीप में दृश्यमान नारायण वस्तुतः उनकी माया है। यदि यहाँ वेदान्त का आश्रय ग्रहण किया जाय तो माया के समाप्त होते ही

- 1- यो वासुदेवो भगवान्देवर्षीर्निर्गुणात्मकः ।
 द्वेयः स एव भगवांजीवः संकल्पः प्रभुः ॥
 संकल्पाच्च प्रधुम्नो मनोभूतः स उच्यते ।
 प्रधुम्नापोडनिरुद्धस्तु सोऽहंकारो महेश्वरः ॥ महा०, 12. 326. 38, 39.
- 2- मुण्डक उपनिषद्, 3. 2. 9.
- 3- कौषीतकि उपनिषद्, 1. 4.

अज्ञान का नाश होने से ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है । अतएव तार्किक दृष्टि से वायुदेव और तंकरा में कोई भेद नहीं है ।

वाय्वरात्र दक्षिण तार्क्य-योग से अत्यधिक प्रभावित है । फिर भी दोनों में भेद स्पष्ट है । तार्क्य देवतादी है । इसीलिए वहाँ मीध के उपरान्त भी प्रकृति तथा पुंस्व दोनों की तत्ता शेष रहती है । पुंस्व भी अनेक हैं जिनका मुक्त होने के पश्चात् प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । परन्तु वाय्वरात्र दक्षिण एक तत्त्व में विघात रहता है, इसीलिए वह प्रकृति का पुंस्व में लय करा देता है । नारायणीयस में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यों तो बहुत से पुंस्व माने गये हैं परन्तु सभी की योगिनी एक है ।¹ वस्तुतः यह कहकर वाय्वरात्रिकों ने तार्क्य से अपना विमिश्र प्रकट किया है । यह पुंस्व सभी के लिए अदृष्ट है । धीरे तपश्चर्या एवं भगवत्कृपा के पश्चात् श्वेतदीप में केवल उसकी आया प्रकृति के दक्षिण होती हैं, वही तार्क्य एवं योग का मन्तव्य है ।²

एक अन्य स्थल पर व्यास ने सृष्टि प्रक्रिया समझाते हुए कहा है कि तार्क्ययोग के वेत्ता जिसे परमात्मा कहते हैं, वही महापुंस्व है । इसी महापुंस्व से अव्यक्त अथवा प्रधान का जन्म होता है । अव्यक्त ही ईश्वर है । जगत् की सृष्टि के लिए अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है । यह व्यक्त ही लोक में अनिष्ट या महान आत्मा कहलाता है ।³ अनिष्ट व्यक्तता को प्राप्त कर पितामह ब्रह्मा को उत्पन्न करता है । ब्रह्मा ही अहंकार हैं । अहंकार से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है । महाभूतों के शब्दादि गुण भी अहंकार से ही प्रकट होते हैं । पंच महाभूतों से मूर्तिमान् आठ स्य प्रकट होते हैं । ये हैं, महीधि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, तसिष्ठ तथा स्वायम्भुव मनु । इसी अष्ट प्रकृति से समस्त लोक प्रतिष्ठित है । इन्हीं से समस्त संसार उत्पन्न हुआ है ।⁴ स्वायम्भुव मनु के अतिरिक्त ये सप्त प्रकृतियाँ

-
- 1- बहुना पुंस्वाणां त यमेका योगिनिर्ययौ ।
तथा तं पुंस्वं विशवं परमं तु महत्तमम् ॥ महा०, 12. 328. 25.
 - 2- वही, 12. 326. 64-65.
 - 3- महा०, 12. 326. 24-26.
 - 4- वही, 12. 327. 28-30.

ही ब्रह्मा के सात मानसपुत्र हैं । ये वैद्वज्, मुख्य वेदाचार्य एवं प्रवृत्तिधर्मराया प्रजापति कहे गये हैं । अतएव इन्हें कर्मरत व्यक्तियों का सनातन पथ माना गया है ।¹ तनू, तनत्तुजात, तनक, तनन्दन, तनकुमार, कपिल एवं सनातन ये भी ब्रह्मा के सात मानसपुत्र माने गये हैं । इनमें विद्वान् स्वयं उत्पन्न हुआ है । ये निवृत्तिधर्म के पालक, सांठययोगेत्ता मोक्षशास्त्राचार्य एवं मोक्षधर्ममुवर्तक हैं ।² इस प्रकार प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक दोनों धर्मों का उद्गम- स्थल ब्रह्मा ही हैं । इससे यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मा ही जीवों को कर्मानुसार फल प्रदान करते हैं तथा वे ही कर्मबन्धनों से मुक्त भी करते हैं ।

पांचरात्र दर्शन की विशेषताएँ :-

भागवत तन्त्रदाय से जुड़ा हुआ पांचरात्र दर्शन मूलतः एक वैदिक दर्शन था । नारायणीयसू में प्रतिपादित पांचरात्र दर्शन पर उपनिषदों के अतिरिक्त इसके पूर्ववर्ती दर्शनों सांठय, योग एवं वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । सम्भवतः इस समय तक इन दर्शनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व प्रकाश में नहीं आया था इसीलिए यहाँ इनका उल्लेख प्रायः एक साथ किया गया है । पांचरात्र दर्शन की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ भी थीं, क्या -- यह सांठय-योग से प्रभावित होते हुए भी उनके समान दैतवादी नहीं था । नारायण को एकमात्र सत्ता स्वीकार करके इतने पूर्ण अद्वैत में श्रद्धा व्यक्त की थी । यह स्वस्थतः अहिंसक था जिसने अन्य आस्तिक दर्शनों की विचारधारा के विपरीत यादिक हिंसा का प्रबल विरोध किया । इसीलिए नारायणीयसू में अहिंसक यज्ञों का भी उल्लेख प्राप्त होता है । परन्तु परवर्ती पांचरात्र दर्शन में यज्ञों का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है एवं उसके स्थान पर मुक्तिपूजा प्रारम्भ हो जाती है ।

अद्वैतवादी :-

पांचरात्र दर्शन में तीन प्रमुख सत्ताओं का उल्लेख प्राप्त होता है जो स्वतन्त्र न होकर एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं । केवल नारायण ही समस्त सृष्टि

1- ऋग्वेद, 12. 327. 61-63.

2- वही, 12. 327. 64-66.

का कारण हैं। वे अन्य किसी का कार्य नहीं हैं, जबकि शेष दो कार्य एवं कारण दोनों ही हैं। नारायण ही वह सर्वातिशायी तत्त्व है जिसे केवल या पुंस्व कहा गया है।¹ यही परब्रह्म अर्थात् आत्यन्तिक तत्ता है जिसका दर्शन ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् ही सम्भव है। वे मुक्त आत्माओं के मन्तव्य हैं।² दूसरा तत्त्व इसी अव्यक्त परब्रह्म का कार्य है तथा व्यक्त है। इसे अपरब्रह्म या ईश्वर कहा गया है परन्तु आवश्यक नहीं है कि यह मूर्तस्व धारण ही करे। नारद ने श्वेतदीप में इसी का दर्शन किया था। यह स्वस्थितः अद्भुत तथा अलौकिक है।³ तीसरा तत्त्व नरनारायण हैं जो ईश्वर के मानवावतार हैं।⁴

श्वेतदीप में दृश्यमान आधा प्रकृति जिसे नारायण, हरि, विष्णु, वासुदेव आदि नामों से अभिहित किया गया है, नर एवं नारायण की योनि है। यह प्रकृति कार्य है जिसका कारण परब्रह्म है।⁵ भिन्न-भिन्न स्थलों पर तीनों तत्ताओं ही को नारायण कहा गया है। मानव रूप में अवतरित होने के कारण नरनारायण ने ४ पंचमहाभूतों से युक्त स्थूल शरीर धारण किया है जो स्वभावतः त्रिगुणात्मक है। परिणामस्वस्थ उनकी योनि अव्यया प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है, क्योंकि कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार कार्य के गुण कारण में भी विद्यमान रहते हैं। परन्तु इसके विपरीत अव्यया प्रकृति का कारणस्वस्थ पुंस्व निर्गुण है। प्रश्न यह है कि निर्गुण पुंस्व से त्रिगुणात्मक प्रकृति की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वह प्रकृति, जिसका दर्शन नारद ने नारायण सम्झकर किया था, वस्तुतः नारायण की माया थी।⁶

- 1- त ह्यन्तरात्मा भूतानां केवलश्चेति कथ्यते । महा०, 12. 321. 28.
- 2- भूतानां तु गतिर्ब्रह्मन्केवल इति कल्पितः । वही, 12. 321. 39.
- 3- वही, 12. 326. इस अध्याय में नारद द्वारा दृष्ट ईश्वर का विश्वस्व वर्णित है। यह वर्णन गीता के ग्यारहवें अध्याय में वर्णित भगवान के विश्वस्व तथा ब्रह्मेद के पुंस्व सूक्त 110. 90 । के पुंस्व से अत्यधिक साम्य रखता है।
- 4- अव्यक्ता व्यक्तभावस्था या ता प्रकृतिरव्यया । तां योनिभावयोर्विद्धि योद्धती शतशतात्मकः ॥ महा०, 12. 321. 30.
- 5- त्रिगुणव्यतिरिक्तोद्धती पुंस्वश्चेति कल्पितः । तत्मादव्यक्तमुत्पन्नां त्रिगुणं द्विजसत्तम ॥ वही, 12. 321. 29.
- 6- माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यति नारद । महा०, 12. 326. 39.

सम्भवतः यहाँ ब्रह्म प्रकृति एवं नरनारायण की व्याख्या के लिए उस दर्शन का अवलम्बन लिया गया है जो सांख्य, योग तथा वेदान्त का अधिभक्त्य है । सांख्य दर्शन में सृष्टि-प्रपञ्च का कारण प्रकृति है । वहाँ पुंस्त्व भी है परन्तु यह प्रकृति की क्रियाओं का केवल द्रष्टा है ।¹ सृष्टि के समाप्त होते ही प्रकृति उसमें विहीन हो जाती है । इस प्रकार स्वतन्त्र होने पर भी दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है । इसके विपरीत पाँचरात्र दर्शन में पुंस्त्व प्रकृति का कारण है । प्रकृति उससे उत्पन्न होती है । अव्यक्त पुंस्त्व से व्यक्त प्रकृति की उत्पत्ति असम्भव है अन्यथा अव्यक्त की निष्क्रियता अस्ति हो जायगी । इसीलिए यहाँ आधा प्रकृति को नारायण की माया कहा गया है । इस स्थल पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट है । नीलकण्ठ की भी यही मान्यता है जो स्पष्टतः आचार्य शंकर के मायावाद से प्रभावित है ।² परन्तु यह व्याख्या अस्पष्ट प्रतीत होती है क्योंकि यदि आधा प्रकृति माया है तो उसे नरनारायण की योनि किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है । मायावाद के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान पर अज्ञान का अव्यवहार होता है न कि ज्ञान से अज्ञान की उत्पत्ति होती है । प्रकृतितः भी यह कार्य-कारण नियम के विपरीत है । पुनः माया से नर तथा नारायण की उत्पत्ति मानने पर दोनों को अज्ञानत्वस्य मानना होगा जबकि ये दोनों दिव्यावतार होने के कारण ज्ञानमय हैं । यह उल्लेख भी कहीं नहीं प्राप्त होता कि आधा प्रकृति स्त्री माया के समाप्त होने पर ही ब्रह्मदर्शन होता है । यहाँ केवल प्रकृति का पुंस्त्व में लय बताया गया है और कहा गया है कि पुंस्त्व का दर्शन ज्ञानयुक्त नेत्रों से ही सम्भव है ।³

दूसरी ओर यदि आधा प्रकृति माया नहीं है तो निर्गुण पुंस्त्व से उसकी उत्पत्ति भी असम्भव है क्योंकि पुंस्त्व कार्य तथा कारण दोनों नहीं हो सकता । नारायणीयस्य पाँचरात्रिकों का प्रायः आदिम ग्रन्थ है । फलतः इन सन्दिग्ध

1- तेन निवृत्तप्रसवाम्भिशालं सप्तस्थविनिवृत्ताय ।

प्रकृतिं पश्यति पुंस्त्वः प्रेक्ष्यदसम्भितः ॥६५॥ इंवरकृष्ण सांख्यकारिकाः.

2- महा० ॥ १० तं १, पाठ दिव्यणी, १२.३३५.३१.

3- पुंस्वी निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृशश्च कथ्यते । महा० ॥ पूना तं १, १२.३२६.२३.

पुश्नों के उत्तर में यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि इस काल तक पांचरात्र दर्शन के स्वल्प का निर्धारण नहीं हो पाया था । इसीसे पांचरात्रिक अपने सिद्धान्तों के सर्तसंगत प्रस्तुतीकरण में असमर्थ प्रतीत होते हैं ।

पांचरात्र दर्शन के पचीस तत्त्व :-

=====

यहाँ नारायण ने अपने को पचीसवाँ तत्त्व कहा है ।¹

शेष चौबीस तत्त्वों के विषय में कोई निर्देश नहीं प्राप्त होता । इस दर्शन के तांत्रिक-योग से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उसके चौबीस तत्त्व यहाँ भी स्वीकार किए जा सकते हैं । ये हैं --- प्रकृति, मल्ल, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ ।

पांचरात्र माहात्म्य :-

=====

श्वेतदीप में विद्यमान नारायण की आया प्रकृति ने नारद को पांचरात्र धर्म का ज्ञान देने के पश्चात् कहा कि जो भी व्यक्ति इस पांचरात्राभ्यास का नित्य पाठ एवं भ्रवण करेगा, वह एकाग्र मन से अनन्य भावोपगत होकर श्वेत महादीप को प्राप्त करेगा तथा वहाँ चन्द्रमा के समान कान्तिमान् होकर सहस्रार्चियुक्त देव नारायण में निःसन्देह प्रवेश करेगा । एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि इस नारायण-कथा को प्रारम्भ से सुनने वाला दुःखी व्यक्ति रोगमुक्त हो जाता है, जिससे अपना काम्य प्राप्त करता है तथा भक्त भक्तों की गति पाता है ।² परन्तु जो व्यक्ति वासुदेव का भक्त नहीं है उसके लिए इस आभ्यास के भ्रवण का निषेध किया गया है ।³

=====

1- अहं हि पुण्यो ज्ञेयो निष्क्रियः पंचविंशकः । महा०, 12. 326. 41.

2- महा०, 12. 326. 116-118.

3- इदमाभ्यासमाधेयं पारंपर्यागतं नृप ।

- नावासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथ्यते ॥ वही, 12. 326. 113.

एक अन्य प्रसंग में पांचरात्र धर्म के महात्म्य को बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर नित्य इसका प्रवण तथा नमो भगवते उच्चारण करके पाठ करता है वह कान्ति, धीर्य एवं सौन्दर्य से सम्पन्न तथा निरोग होता है, आतुर व्यक्ति रोगमुक्त तथा तांत्रिक बंधनों में बद्ध पुरुष बन्धनमुक्त हो जाता है, पुत्रहीन व्यक्ति पुत्र प्राप्त करता है एवं कन्या अभीष्ट वर, लग्नगर्भा विमुक्त होती है ; गर्भिणी स्त्री पुत्र को तथा वन्ध्या स्त्री समृद्धिशाली पुत्र-पौत्र को जन्म देती है ।¹ मार्ग में इस शास्त्र का पाठ करने से यात्रा निर्दिष्टन समाप्त होती है । इसका पाठ एवं प्रवण करने वाला मनुष्य जैसी कामना करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है ।² जैसे दही से मक्खन, मलयगिरि से चन्दन, वैदों से आरण्यक तथा औषधियों से अमृत निकाला जाता है उसी प्रकार नारायण का आश्रय ग्रहण करने वाला यह उत्तम कथामृत है । सभी आश्रमों में गमन एवं सभी तीर्थस्थलों में स्नान भी उतना फलप्रद नहीं है जितना नारायण की कथा का प्रवण तथा पाठ ।³ यह कथा सभी प्रकार के पापों का विनाश करने वाली है । एकान्तिनों द्वारा सेवित यह धर्म सांख्य एवं योग के समकक्ष है । यह नारायणात्मक मोक्ष ही सात्त्विकों की सद्गति है ।⁴

=====

1- महा०, 12. 327. 102-105.

2- यो यं कर्म कामयते स तमाप्नोति च पुंसः । वही, 12. 327. 107.

3- त्वप्रिमाभिगमनं त्वतीयाविगाहनम् ।

- न तथा फलदं वापि नारायणकथा यथा ॥ महा०, 12. 331. 7.

4- वही, 12. 336. 69.

शिवम्ना =====

स्टु सम्बन्धी जो भी विवरण नारायणीयसु में उपलब्ध है उसका मुख्य भाग वस्तुतः दक्षयज्ञ के उपरान्त की कथा है ।

दक्षयज्ञ आशयान :-

दक्ष ने यज्ञ में स्टु के भाग की कल्पना नहीं की थी । फलतः दधीचि के वचनानुसार शिव ने क्रुद्ध होकर हुँकार करते हुए अपने प्रज्वलित त्रिशूल से उस विशाल यज्ञ को भस्म कर डाला । तत्पश्चात् वह त्रिशूल वदरिकाश्रम में नर तथा नारायण के समीप उपस्थित हुआ । स्टु ने दोनों श्रधियों के साथ भयंकर युद्ध किया । त्रिशूल के तेज से नारायण के केश मुँजवर्ण हो गये । नारायण ने अपनी हुँकार से समाहत त्रिशूल को शंकर के हाथ में लौटा दिया । स्टु वेग से दोनों श्रधियों की ओर दौड़े । नारायण ने क्रुद्ध शिव का हृदय कण्ठ हाथ से पकड़ लिया । उसी समय से स्टु शितिकण्ठ कहलाते हैं । स्टु के विनाशार्थ नर ने एक इधिका लेकर मन्त्रों से उसे महान् परशु के रूप में परिवर्तित कर दिया । परन्तु स्टु के द्वारा वह खण्डित कर दिया गया । इसीलिए नारायण खण्डपरशु कहलाते हैं ।

इस युद्ध के कारण समस्त विश्व व्याकुल हो उठा । अग्नि ने यज्ञों में दी गई पवित्र हवि ग्रहण नहीं की, आत्मका श्रधियों में वेदप्रतिभा नहीं रही, देव रजोगुण एवं तमोगुण से आविष्ट हो गए, भूमि तथा गगन विचलित होने लगे, तेजस्वी निष्प्रभ हो गए, ब्रह्मा आसन से च्युत हो गए, समुद्र सूख गया, तथा हिमालय टूटने लगा । इन निमित्तों के उत्पन्न होने पर श्रधियों तथा देवताओं के साथ ब्रह्मा तंशामस्थल में उपस्थित हुए । उन्होंने स्टु से लोकहित के लिए अस्त्रों का परित्याग करने का अनुरोध किया । उन्होंने बतलाया कि जो कूटस्थ, अद्वय, अविशेष आदि विशेषताओं से युक्त परम तत्त्व है, व्यक्त भाव में उसी कल्याणकारी मूर्ति ने धर्म की वीर्यवृद्धि के लिए नर तथा नारायण के रूप में जन्म लिया है ।

उसी नारायण की कृपा से ब्रह्मा तथा क्रोध से पूर्व सर्ग में सनातन रूद्र का जन्म हुआ है । नारायण की इन विशेषताओं को बतलाकर ब्रह्मा ने रूद्र से नरनारायण को प्रसन्न करने का अनुरोध किया । मैत्री हो जाने पर नारायण ने रूद्र से कहा कि जो तुम्हें जानता है, वही मुझे भी जानता है । हमदोनों में कोई भेद नहीं है । यह श्लाक ही मेरा श्रीवत्स लक्षण होगा तथा मेरे पाणि से चिह्नित तुम श्रीकण्ठ कहलाओगे । अन्त में रूद्र के साथ दोनों ऋषियों ने सभी देवताओं को विदा किया तथा तीनों एकाग्र मन से तपस्या में लीन हो गये ।

महाभारत से पूर्व दक्षयज्ञ की कथा कहीं नहीं प्राप्त होती । ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्वकाल में हुए किसी ऐसे यज्ञ का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है जिसमें शिव को अपना भाग नहीं प्राप्त हुआ था ।² डा० यदुवंशी के अनुसार " अपरकालीन दक्ष यज्ञ की कथा का बीज हम इस वैदिक कथा में पाते हैं । जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस कथा का विकास होता गया । यहाँ तक कि इसने वह रूप धारण किया जिसे हम प्राचीन धर्मावलम्बियों पर शैवधर्म की अन्तिम विजय का देवकथास्य कह सकते हैं । इस विजय के पश्चात् शैवधर्म की स्थिति दृढ़ हो गई, और शिव सर्वमान्य हो गये । यह सब रामायण-महाभारतकाल के बहुत पहले ही हो चुका होगा क्योंकि इन ग्रन्थों में शैवमत ब्राह्मणधर्म के एक मुख्य अंग के रूप में दिखाई देता है, और दक्षयज्ञ की कथा का अपने पूर्ण विकसित रूप में उल्लेख किया गया है ।"³ अतएव शैवधर्म के इतिहास की दृष्टि से महाभारत में आई दक्षयज्ञ की कथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है ।⁴

विभिन्न पर्वों में उल्लिखित दक्षयज्ञ आख्यान:-

दक्षयज्ञ सम्बन्धी आख्यान महाभारत में ही दो स्थानों में दिखाई पड़ता है -- प्राचीन तथा अर्वाचीन । प्राचीन कथा सौप्तिक पर्व में आई है ।⁵ इसके अनुसार रूद्र यज्ञ में अपने भाग से इसीलिए वंचित रह गये थे क्योंकि वहाँ

- | | |
|----|--------------------------------|
| 1- | महा०, 12. 330. 64-65. |
| 2- | जैमिनीय ब्राह्मण, 3. 261-263. |
| 3- | डा० यदुवंशी, शैवमत, पृ० 78-79. |
| 4- | वही, पृ०-78. |
| 5- | महा०, 10. 18. |

उपस्थित देवता उन्हें नहीं पहचान पाए थे । इस अपमान से क्रुद्ध शिव ने यक्षस्थल पर आकर देवताओं से भयंकर युद्ध किया । विश्व में प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो गई । यक्ष ने हिरण के रूप में पलायन किया । उनके साथ ही अग्नि भी चले गये । भयभीत देवताओं के पलायन की इच्छा जानकर रुद्र ने उनका मार्ग अवरोध कर दिया । उनका पराक्रम ज्ञात हो जाने पर जब देवताओं का अभिमान पूर्णतः दण्डित हो गया तथा उन्होंने रुद्र को यक्षभाग प्रदान कर दिया तभी वे मुक्त हुए ।

डा० यदुवंशी ने अनुशासन पर्व में प्राप्त एक कथा का उल्लेख किया है 'जिसके अनुसार इस नवीन शैवधर्म के सम्यक दधीचि थे । दक्ष ने शिव को यक्ष में आमंत्रित नहीं किया । दधीचि के द्वारा कारण पूछे जाने पर दक्ष ने उत्तर दिया कि वह यक्ष में उपस्थित एकादश रुद्रों के अतिरिक्त किसी अन्य रुद्र को नहीं जानते जबकि नारायणीयसु में एक स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्मा के क्रोध से रुद्र ने जन्म लेकर स्वयं दत्त अन्य रुद्रों को उत्पन्न किया है । ये एकादश रुद्र ही विकार पुंस्व कहे गये हैं ।² यह जानकर उमा ने शिव ने आग्रह किया कि वे देवताओं से अपना भाग माँगे तथा उन्हें दण्डित भी करें । पहले शिव अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थे परन्तु उमा के अनुरोध पर उन्होंने अपने मुख से एक भयंकर जीव 'वीरभद्र' को उत्पन्न किया । वीरभद्र के साथ उमा महाकाली का रूप धारण कर यक्षस्थल पर गयीं । दोनों ने मिलकर दक्षयक्ष का विनाश किया ।

महाभारत के विभिन्न पर्वों में प्राप्त दक्षयक्ष की ये कथाएँ तत्कालीन शिवोपासना के स्वस्व की ओर संकेत करती हैं । डा० यदुवंशी ने इन दोनों कथाओं का तो उल्लेख किया है, परन्तु शान्तिपर्व में वर्णित दक्षयक्ष आठयान पर उनकी दृष्टि नहीं गई है । शान्तिपर्व में भी यह आठयान दो स्थलों पर उपलब्ध है । एक कथा नारायणीयसु में तथा दूसरी उत्तरे पूर्व मोक्षधर्मपर्व में ही प्राप्त होती है ।³ यहाँ यह आठयान अपने पूर्ण विकसित रूप

- 1- डा० यदुवंशी, शैवसूत्र, पृ०- 79.
- 2- महा०, 12.327.31.
- 3- वही, 12.274.

में है। इसमें शिव ने अपने अनुचरों के साथ जाकर स्वयं एक -विध्वंस किया है। उन्होंने जिस भयंकर जीव की सृष्टि की, उसका नाम 'वीरभद्र' न होकर 'ज्वर' है। यह कथन महत्वपूर्ण है कि रुद्र ने जिस एक का विनाश किया, वह अवश्य एक था।¹ यहाँ उमा मात्र प्रेरणादायिनी है, युद्धकर्त्री नहीं। इस आध्यान से स्पष्ट है कि इस समय तक शैवमत वह रूप ग्रहण कर चुका था जो परवर्ती पौराणिक काल में दृष्टिगोचर होता है। अन्ततः शिवोपासना के प्रति विरोध-भावना सर्वथा लुप्त हो चुकी थी। डा० यदुवंशी कहते हैं कि "भक्तिवाद का भी अब पूर्णरूप से प्रचार हो गया था और यह विष्णु तथा शिव -- इन्हीं दो देवताओं में केन्द्रित था।"² यही स्थिति नारायणीयम् में भी है। पूर्वकथा से बतझूतना भेद है कि यहाँ शिव का युद्ध नर एवं नारायण से हुआ है। रुद्र से सम्बन्धित ये अध्याय तत्कालीन उस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के परिचायक हैं जो विभिन्न यन्त्रावलम्बियों के मध्य पनप रही थी।

सामान्यतया विद्वान् शैवमत को अनार्यमूल्य मानते हैं। उनके मतानुसार रुद्र एक अवैदिक देवता हैं जिन्हें आगे चलकर वैदिक ऋषियों के द्वारा अपना लिया गया। यही रुद्र बाद में शिव कहलाने लगे। इन विद्वानों ने अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं :-

वैदिक एवं वेदपूर्व संस्कृति के परस्पर मिश्रित होने के कारण आर्यों ने भी रुद्र की उपासना प्रारम्भ कर दी। यदि यह सत्य है तो वैदिक संस्कृति में अपना अस्तित्व सुरक्षित बनाए रखने के लिए रुद्र को अत्यधिक संशुद्ध करना पड़ा होगा क्योंकि वहाँ उनका स्मरण प्रायः एक प्रलयकारी देवता के रूप में किया गया है।³ उनके रौद्र तथा संहारकारी रूप से सामान्य जन-जन तो क्या समस्त देवकुल तक भयभीत रहता है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी उपासना के प्रति विरोध स्पष्ट दिखाई पड़ता है। परवर्तीकाल में उपासना

1- दक्षी नाम महाभागे प्रजानां पतिस्ततः ।

हयमेधेन यज्ञे तत्र यान्ति दिवोक्तः ॥ महा०, 12. 274. 23.

2- डा० यदुवंशी, शैवमत, पृ०-83 .

3- स्तुति श्रुतं गतिदं युक्तिं मुनिं न भीममहत्तुमुग्रम् ।

मुक्ता जरीत्रे रुद्रं स्तुतवानोऽन्यं ते अस्मिन्नि यमेन्तु तेनाः ॥ ऋ०, 11. 33. ॥

विधि के साथ-साथ देवताओं की श्रेष्ठता के क्रम में भी परिवर्तन आया । याज्ञिक हिंसा के विरोध में भक्तिवाद का प्रचार हुआ । ऋग्वेद में नग्न्य स्थान प्राप्त विष्णु सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये । प्रजापति, जिन्हें संहिताओं में सृष्टि का नियामक तत्त्व माना गया था, केवल एक साधारण देवता रह गये । प्रत्यक्षकारी रुद्र की उपासना अब लोककल्याणकारी शिव के रूप में की जाने लगी । ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में स्थान प्राप्त करने के लिए रुद्र को निःसन्देह स्वीकार करना पड़ा होगा । परन्तु रुद्र को वैदिक देवता मानने तथा ब्राह्मण धर्म में उनके विलय के पश्चात् भी दीर्घकाल तक विरोध की यह भावना बनी रही । शिव को स्थान दिलाने का यह स्वीकार ऋग्वेद के पश्चात् ही प्रारम्भ हो गया था क्योंकि ऋग्वेद में कई स्थानों पर रुद्र के सौम्य रूप की भी स्तुति प्राप्त होती है ।¹ रुद्र विषयक ज्ञान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन स्रोत शुक्ल ऋग्वेद की वाजसनेयि संहिता के सोलहवें अध्याय 'रुद्राष्टाध्यायी' या 'शतरुद्रीय' के रूप में उपलब्ध है । यहाँ पर उत्ती ऋग्वैदिक संहारकारी देव का स्मरण किया गया है जो समाज के तुल्य तथा कभी-कभी भुद्र वर्गों का भी प्रतिनिधित्व करता है ।²

रुद्र को अनार्य मानने का उपर्युक्त कारण का पर्याप्त नहीं है । ऋग्वेद में रुद्र के न केवल संहारकारी अपितु सौम्य रूप की भी स्तुति की गई है । यदि वैदिक देवता प्रकृति के आधार पर कल्पित तथा उसके विभिन्न स्वरूपों के अभिव्यक्त हैं तो उन्हें उसके शान्त तथा घोर दोनों ही रूपों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए । इस तथ्य को हम रुद्र में सर्वाधिक प्रकट रूप में चरितार्थ पाते हैं । उनके व्यक्तित्व में प्रकृति के दोनों रूप समाहित हैं । इसीलिए उनके दोनों रूपों की स्तुति प्राप्त होती है । रुद्राष्टाध्यायी में उनका स्मरण विश्वपति एवं गणपति के रूप में किया गया है ।³ विश्व के प्रति उनकी मंगलकामना की यहाँ अनेकशः स्तुति की गई है ।

1- नमो बभ्रुवाय द्याधिनिन्नामा पतये नमो नमो भवस्य हृदये जगता पतये नमो नमो रुद्रायोततायिने केनागा पतये नमो नमः सुतायाहन्तये बर्नाना पतये नमः ।।
शु० य०, 16. 18.

2- वही, 16. 27-28.

3- नमो गृह्यो गणपतिभ्यश्च वोनमो नमो प्रातर्भ्यो प्रातपतिभ्यश्च वोनमो नमो गृह्यो गृह्यपतिभ्यश्च वोनमो नमो विश्वस्यो विश्वस्यभ्यश्च वोनमः ।। शु० य०, 16. 25.

नारायणीयसु की इस कथा में ब्रह्मा ने रुद्र से अस्त्र परित्याग का अनुरोध किया है । यहाँ प्रयुक्त 'शिव' पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा उस संक्रमणकाल की ओर इंगित करता है जब रुद्र के शिवीकरण का प्रयास किया जा रहा था । यह कथा जहाँ इस बात का प्रमाण है कि जनतामान्य ने अभी तक रुद्र के प्रत्यर्पकारी रूप को चिन्मूक नहीं किया था वहीं रुद्र से शिव बनने की प्रार्थना यह प्रकट कर रही है कि इस देवता का स्वस्व अब सौम्य होता जा रहा था । संहारकर्ता रूप के स्मरण के साथ-साथ पालनकर्ता रूप में उनकी उपासना का प्रारम्भ हो चुका था । ऋग्वेद तथा शतसुद्धि के रुद्र से इनकी तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि दक्षयज्ञ की कथा के रूप में प्राचीन रुद्र की अब क्षीण स्मृति मात्र शेष रह गई थी । यहाँ भी रुद्र स्वतन्त्र न होकर विष्णु के पूरक चरित्र के रूप में वर्णित है ।²

त्रिदेवों का एकीकरण तथा विष्णु की श्रेष्ठता :-

यहाँ त्रिदेवों के रूप में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के एकीकरण का भी प्रयास किया गया है । वस्तुतः वेदोत्तरकालीन संस्कृति में उत्पन्न बहुदेववाद का दुष्परिणाम शीघ्र सामने आ गया क्योंकि इससे विभिन्न सम्प्रदायों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी । फलतः इस साम्प्रदायिक एकता को समाप्त करने के लिए पुनः एक तत्त्व की कल्पना पर बल दिया जाने लगा । नारायणीयसु देवताओं के इस उच्चावचविषय तथा साम्प्रदायिक एकता का एक अच्छा उदाहरण है । यहाँ नारायण न केवल सर्वोच्च देव हैं अपितु रुद्र तथा ब्रह्मा को भी अपने व्यक्तित्व में समाहित किये हुए हैं । इस प्रकार उनकी प्रकल्पना में देवत्रयी को एकाकार कर दिया गया है । ब्रह्मा ने नारायण के प्रसाद से अपनी तथा क्रोध से रुद्र की उत्पत्ति बतलाई है ।³ इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मा नारायण के तत्त्वगुण का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनकी एक बड़ी विशेषता उनका शान्त स्वभाव है । इसीलिए नरनारायण तथा रुद्र के युद्ध में उन्होंने मध्यस्थ की भूमिका निभायी है । क्रोध से उत्पन्न होने

1- उवाच वचनं रुद्र लोकानामस्तु वै शिवसु ।

न्यत्यायुधानि विश्वेश जगतां हितकाम्यया ॥ महा०, 12. 330. 56.

2- वही, 12. 330. 64.

3- महा०, 12. 330. 64.

के कारण रुद्र में रजोगुण का प्राधान्य है । ऋग्वेद में यह स्थिति नहीं थी । वहाँ सर्वप्रमुख देवता ब्रह्मा या प्रजापति हैं ।¹ इसके विपरीत नारायणीयसू में उन्हें एक प्रकार से गौण स्थिति दे दिया गया है । वस्तुतः यहाँ ब्रह्मा तथा रुद्र के व्यक्तित्व को नारायण के व्यक्तित्व में समाहित कर दिया गया है । इसीलिए नारायण ने रुद्र से कहा है कि " जो तुम्हें जानता है, वह मुझे जानता है । जो तुम्हारे निकट है, वह मेरे निकट है । हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है । इसीलिए तुम्हारी बुद्धि अन्यथा न हो ।"² इससे स्पष्ट है कि जो शिव हैं वही विष्णु हैं ।

एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि देवाधिदेव महेश्वर के पूजित होने पर नारायण ही पूजित होते हैं । जगत् की आत्मा नारायण सर्वप्रथम आत्मस्थ रुद्र की पूजा करते हैं । यदि नारायण वरदाता शिव की पूजा न करें तो स्वयं उनकी पूजा कोई नहीं करेगा ।³ वस्तुतः दध्याक्षहर तथा भगनेश्वर रुद्र को प्रत्येक युग में नारायणात्मक जानना चाहिए ।⁴ रुद्र तथा नारायण एक ही हैं जो सभी कार्यों में दो स्थानों में व्यक्त होकर लोक में विचरण करते हैं । सर्वव्यापी विष्णु अपने अतिरिक्त किसी को प्रणाम नहीं करते केवल रुद्र की आराधना करते हैं ।⁵ देवताओं के एकीकरण का यह सिद्धान्त सर्वप्रथम महाभारत में ही नहीं प्राप्त होता । स्वयं ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि अपनी श्रद्धा के अनुसार भी ही अनेकानेक देवताओं की सत्ता की कल्पना कर ली जाय, अन्ततः वह सत् सत्त्व एक ही है ।⁶

-
- 1- प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जाता नि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणासु ॥ ऋ०, १०. १२१. १०
 - 2- यस्त्वा वेत्ति त मां वेत्ति यस्त्वामनु त मामनु ।
नामोरन्तरं किंचिन्मा ते भूदबद्धिरन्यथा ॥ महा० १२. ३३०. ६४
 - 3- वही, १२. ३२८. २०-२२.
 - 4- वही, १२. ३२८. १९.
 - 5- न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद्विबुधाय तु ।
अत आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम् ॥ वही, १२. ३२८. २६.
 - 6- इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रयो द्विद्वयः त तृणो गुह्यमान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ०- १. १६४. ४६

वस्तुतः जो अन्न, निराकार तथा अप्यक्त तत्त्व है, वह जहाँ तृष्टि के बालनाभ स्वयं को कल्याणरूप तत्त्व ब्रह्मा के रूप में व्यक्त करता है वहीं तृष्टि के विनाश के लिए वह रूप में अपने तंहारक रूप को प्रदर्शित करता है।

रूप तथा नारायण का वैमल्य सम्भवतः शिव तथा वैष्णव मानुषायियों का मान्य रहा होगा। उक्त समय भाग्यत धर्म के लोक में कलुषारित होने के कारण ही यहाँ रूप पर नारायण की विजय दिखाई गई है। दक्षक तम्बन्धी आशयान के अन्त में कहा गया है कि यह नारायण की विजयगाथा है।¹ रूप की वैष्णवता का प्रतिपादन करते हुए कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि युद्ध में तुम्हारे आगे शिव ही विद्यमान रहते थे। तुमने जिन्हें युद्ध में मारा था वे पहले ही रूप के द्वारा मारे जा चुके थे।² नारायण के नामों की व्युत्पत्ति के क्रम में एक स्थान पर कृष्ण ने कहा है कि उन्होंने पुत्र के लिए रूप की आराधना की थी।³ नारायणीयस्य के माध्यम से सम्भवतः रूपोपासना को समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। परन्तु रूप के व्यक्तित्व को नारायण में समाहित कर देने से यह उपासना अन्ततः विष्णु की हो गई है। शिव के इस विष्णु रूप की कल्पना गुप्त काल में भी की गई है जहाँ उसे 'शिषिविष्ट' कहा गया है।⁴ डा० चतुर्वर्ती महाभारत काल में रूप-शिव की उपासना के दो रूप मानते हैं -- एक दार्शनिक तथा दूसरा लोक प्रयुक्त, तथैव ही यह भी स्वीकार करते हैं कि "महाभारत में इन दोनों रूपों को इस प्रकार से पृथक् नहीं माना गया है और यह भी तथैव ही है कि शिव की उपासना के लोक प्रयुक्त रूप पर उसके दार्शनिक रूप का भी काफी प्रभाव पड़ा है।"⁵

=====

1- सद्य ते कथितः शार्ङ्ग नारायणयो मृगे । महा०, 12. 330. 67.

2- वही, 12. 330. 69-70.

3- पुत्रार्थमाराधित्वानात्मानमहमात्मना । वही, 12. 328. 25.

4- नमः कर्पदिने च व्युत्पत्तिशाय च नमः सहस्राधाय शायन्विने च नमो गिरिशयाय च शिषिविष्टाय च नमो मीढुकटभाय चैषमौ च ॥

शु० प०, 16. 29.

5- डा० चतुर्वर्ती, शिवमठ, पृ० - ७०.

नारायणीयसु में प्रयुक्त रुद्र के अन्य नाम :-

यहाँ रुद्र के कई कर्मायवाची नामों का प्रयोग हुआ है, यथा, शंकर, शिव, विश्वेश, श्रीकण्ठ, हर, त्र्यम्बक, शितिकण्ठ, योगीश, त्रिनयन, उग्रतपा, कपर्दी, जटिल, मुण्ड, शम्भानगृहवासी, उग्रवतधर, त्रिमुरदास्त्र आदि । रुद्र का 'त्र्यम्बक' नाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अनेक विद्वानों ने इसे पद की विभिन्न प्रकार से व्याख्यायें की हैं । पुराणों तक आते-आते यह शिव का एक अत्यन्त प्रचलित नाम हो गया । यह नाम ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है यही मन्त्र कृष्ण यजुर्वेद में भी पाया जाता है ^१ त्र्यम्बक का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है-- जिसकी तीन मातायें हैं । डा० यदुवंशी के अनुसार वैदिक साहित्य में 'अम्ब' पद पिता के लिए आया है अतएव 'त्र्यम्बक' पद का अर्थ हुआ 'जिसके तीन पिता हैं ।' वैदिक देवताओं में केवल अग्नि के तीन जन्मों का । पृथ्वी, आकाश तथा धु में । उल्लेख प्राप्त होता है । रुद्र तथा अग्नि का तादात्म्य होने से यह उपाधि अग्नि से रुद्र को प्राप्त हुई । कालान्तर में अम्ब का अर्थ पिता न करके नेत्र किया जाने लगा ।^२ इस भ्रान्ति के कारण ही पौराणिक शिव के एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख स्वल्प की उत्पत्ति हुई, और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई ।^४

परन्तु अम्ब पद का प्रयोग पिता के लिए होता था या नहीं, इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता । श्री बी०एस० आप्टे असु शब्द में घञ् प्रत्यय लगाकर अम्ब पद का अर्थ पिता करते हैं परन्तु इसके प्रयोग का वे कोई उदाहरण नहीं देते । इसके विपरीत मौनियर विलियम्स अम्ब का प्रयोग तम्बोधन में मानते हुए इसका अर्थ माता करते हैं । कई अन्य विद्वानों ने भी अम्ब का अर्थ माता करते हुए 'त्र्यम्बक' पद के अनेक अर्थ किए हैं । श्री कुन्दनलाल शर्मा ने शतपथ ब्राह्मण । २, ६; २, ९। का उल्लेख करते हुए कहा है कि त्र्यम्बिका

१- ब्रह्मणा सह तम्वादं त्र्यम्बकस्य त्रिणां पते । महा०, १२. ३३८. ८.

२- त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उवाक्स्मिन् बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय-
माइमृतात् ॥ ऋ०. ७. ५९. १२.

३- कृष्ण यजुर्वेद, १. ८. ६.

४- डा० यदुवंशी, शिवमा, पृ०-१७.

नाम्न स्त्री से सम्बन्ध होने के कारण रुद्र को त्र्यम्बक कहा जाता है, जो बाद में त्र्यम्बक बन गया ।¹ आर्बमान ने त्र्यम्बक पद को लेकर रुद्र की तीन पत्नियों को स्वीकार करके रुद्र को मातृ-पूजा के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है । ये मातायें देवियाँ मानी जाती हैं । कुन्दनलाल शर्मा इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि रुद्र की तीन माताओं का उल्लेख उत्तरकालीन साहित्य में कहीं नहीं मिलता । केवल अम्बिका का उल्लेख प्राप्त होता है जो रुद्र की घहन न होकर पत्नी के रूप में प्रसिद्ध हैं और वे वस्तुतः शरद ऋतु हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण ॥६.१०॥ तथा शतपथ ब्राह्मण ॥२.६; २.९॥ त्र्यम्बक पद का अर्थ 'स्त्री अम्बिका' करते हैं । हिल्लैब्राह्मण के अनुसार त्रि पद स्तु 'तारा' के तुल्य है । अतः इससे प्रतीत होता है कि रुद्र का तीन ऋतुओं से कुछ सम्बन्ध था ।² वस्तुतः आर्बमान के त्र्यम्बक सम्बन्धी मत की पुष्टि ब्रौतयक की त्र्यम्बक आहुति से भी नहीं होती, जिसके आधार पर ऐसी व्याख्या स्वीकार की जा सके ।³

अम्ब का सामान्य अर्थ माता स्वीकार करने पर त्र्यम्बक पद का अर्थ 'तीन माताओं वाला' हुआ । ये रुद्र की मातायें भी हो सकती हैं तथा पत्नियाँ भी । रुद्र जगत्पिता कहे गये हैं अतएव उनकी पत्नियाँ तात्सारिकों की दृष्टि से मातायें कहलायेंगी । एक ही स्त्री रुद्र की पत्नी तथा माता दोनों कैसे हो सकती है ? इस सन्देह का निराकरण यह मानकर किया जा सकता है कि आत्यन्तिक सत्ता के मध्य कोई भीतिक सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता । ऋग्वेद में कहा गया है कि दक्ष से अदिति की तथा अदिति से दक्ष की उत्पत्ति हुई है एवं ये दोनों पति-पत्नी भी हैं ।⁴ इस प्रकार इन दोनों के मध्य पिता-पुत्री, माता-पुत्र तथा पति-पत्नी ये तीनों वही सम्बन्ध विद्यमान हैं ।

नारायणीयसु में 'त्र्यम्बक' पद त्रिदेवों के एकीकरण से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होता है । त्र्यम्बक से सम्बद्ध तीनों अम्बायें स्त्रियों दार्शनिक दृष्टि

1- कुन्दनलाल शर्मा, रुद्र, पृ०-१८७ ।

2- वही, पृ०-१९१-१९२.

3- वही, पृ०-५८.

4- भूर्गो उत्तानादो भूय आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्ददितिः परि ॥
अदितिर्दक्षनिष्ठ दक्ष या दृष्टिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमूर्तबन्धवः ॥ ऋ०, १०, ७२.५-५

ते देवत्रयी का उल्लेख करती प्रतीत होती हैं । ये तीनों अम्बार्ये तीनों देवताओं की शक्तियाँ हो सकती हैं जो उन्हीं के अनुस्यू हैं । इन्हें देवताओं से पृथक् नहीं किया जा सकता । जब तीनों देवों का तादात्म्य हो सकता है तब उनकी शक्तियाँ भी एकीकृत होकर किसी एक देवता के साथ संयुक्त हो सकती हैं । अन्ततः वह एक शक्ति नारायण का पूरकांश होकर उनके सृष्टिकार्य में सहायिका होती है । यह मूल अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

वस्तुतः नारायणीयसु में त्रिदेवों के एकीकरण एवं माहात्म्य के भिन्न-भिन्न स्वस्य दृष्टिगोचर होते हैं । एक स्थल पर नारायण को सर्वविष्णु मानते हुए स्रु तथा ब्रह्मा को उनके अंश रूप में वर्णित किया गया है । ब्रह्मा यहाँ गौण प्रतीत होते हैं ।¹ परन्तु वहीं अन्यत्र ब्रह्मा एवं स्रु पिता-पुत्र के रूप में चित्रित हैं । यहाँ ब्रह्मा ने स्रु की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए पुण्य रूप में नारायण के स्वस्य का विशद विवेचन किया है ।² यह वर्णन ऋग्वेद के पुण्यसूक्त से अत्यधिक साम्य रखता है ।³ इसीलिए इसे भी पुण्यसूक्त ही कहा गया है ।⁴ अतएव यहाँ सर्वोच्च तत्ता तो नारायण ही हैं परन्तु ब्रह्मा स्रु से अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं । एक अन्य प्रसंग में स्रु को ब्रह्मा के कलाट से उत्पन्न उनका अनुज कहा गया है जो ब्रह्मा की आज्ञा से सबको वर प्रदान करते हैं ।⁵

वस्तुतः यहाँ उस स्रु का उल्लेख है जिसका स्वस्य संहिताओं से भिन्न परन्तु पौराणिक आख्यानों का मूल स्रोत है । उनके प्राचीन संहारकारी स्वस्य का स्मरण अभी तक विद्यमान था । परन्तु अब वे एक सौम्य तथा वरदाता देवता के रूप में विष्णु के समान ही लोकप्रिय हो गये थे । इसके साथ ही यदा-कदा विभिन्न सम्प्रदायों में होने वाले विवादों से बचने के लिए त्रिदेवों के एकीकरण का सिद्धान्त भी दृढ़ता से प्रतिपादित किया जा रहा था ।

1- महा०, 12.330.42-66.

2- वही, 12.338.

3- विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनातिकः ।

एकचरति क्षेत्रेषु स्वैश्वरी = यथासुखम् ।। वही, 12.339.5.

4- महा०, 12.338.5.

5- वही, 12.327.70.

धार्मिक कृत्य =====

यज्ञ :-

वैदिक संस्कृति पूर्णतः धार्मिक संस्कृति है। परवर्ती काल में यज्ञीय हिंसा के प्रति जनसामान्य में जुगुप्सा उत्पन्न होने के कारण उत्तरोत्तर यज्ञों के महत्त्व में ह्रास आता गया। इसीलिए आगम ग्रन्थों में उपासना में यज्ञों के स्थान पर भक्ति का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। पाँचरात्र सम्प्रदाय भी प्रायः यज्ञों को अस्वीकार करता है। नारायणीयम् में नारायण के अवतार तथा व्यूहवाद के सिद्धान्तों के साथ ही यज्ञों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। यहाँ प्रमुख त्व से अश्वमेध यज्ञ का वर्णन आया है।¹ यत्र-तत्र अन्य यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है।²

अश्वमेध यज्ञ :-

राजा उपरिचर वस्तु ने अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञके होता स्वयं बृहस्पति थे। प्रजापति के पुत्र रक्षत, दित तथा अत्रि, धनुषाक्ष, रैम्य, अर्वावस्तु, परावस्तु, मेधातिथि, ताण्ड्य, शक्ति, वेदशिरा, कपिल, आचकठ, तैत्तिरि, कव एवं देवहोत्र ये तीसह ऋषि इस यज्ञ में दीक्षित हुए।³ इन ऋषियों में से कई ऐसे भी हैं जिनके नाम से वेदों की शाखाएँ उपलब्ध हैं। अश्वमेध यज्ञोंकी प्राचीन पद्धति से भिन्नता रखते हुए यहाँ पशुहिंसा का निषेध किया गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि "वहाँ पशुहिंसा नहीं हुई थी। इस प्रकार वे राजा हिंसारहित, पवित्र, उदार, कामनाओं से रहित तथा कर्मसंतुष्ट होकर। यज्ञ में स्थित थे। वहाँ वन में उत्पन्न पदार्थों से ही देवताओं के यज्ञसम्बन्धी भाग की कल्पना की गई थी।"⁴

1- महा०, 12. 323. 5-18.

2- वही, 12. 324.

3- वही, 12. 323. 6-9.

4- न तत्र पशुघातोऽभूत्त राजैर्व स्थितोऽभवत् ।

अहिंसः शुचिरशुद्धी निराशीः कर्मसंतुतः ।

आरण्यक्यदोदगीता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ वही, 12. 323. 10.

इस पवित्र यज्ञ के प्रमुख देवता स्वयं भगवान् नारायण थे । इससे पूर्व सर्वत्र अश्वमेध यज्ञ का प्रमुख देवता प्रजापति को माना गया है । अतः यहाँ एक मौलिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । नारायण ने प्रसन्न होकर राजा को दर्शन दिया किन्तु अन्य उपस्थित जनों के लिए वे अदृश्य ही रहे । अन्य देवताओं ने प्रत्यक्ष रूप से वहाँ उपस्थित होकर अपना भाग ग्रहण किया । नारायण के इस प्रकार अप्रत्यक्ष रहने के कारण आचार्य बृहस्पति क्रुद्ध हो गये । अन्य ऋषियों ने उन्हें यह कहकर शान्त किया कि जिस देवता ने अपना यज्ञभाग ग्रहण कर लिया है, उसे प्रसन्न सम्मानना चाहिए ।¹ यज्ञ में उसका प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होना उतना महत्व नहीं रखता जितना कि अपना भाग ग्रहण करना । इसके अतिरिक्त उस सर्वोच्च सत्ता के दर्शनार्थ घोर तपस्या करनी पड़ती है । बृहस्पति के क्रोध को अनुचित बताते हुए ऋषियों ने यह भी कहा कि क्रोध करना तत्पुनः का धर्म नहीं है ।

यहाँ नारायण का अश्वमेध यज्ञ के देवता के रूप में आना महत्वपूर्ण है क्योंकि मूलतः इस यज्ञ का प्रमुख देवता प्रजापति को माना गया है । ऋग्वेद तथा वाजसनेयि संहिता से लेकर शतपथ ब्राह्मण एवं परवर्ती साहित्य तक इस यज्ञ के प्रमुख देवता प्रजापति ही रहे हैं । अश्वमेध को सभी यज्ञों का राजा कहा गया है और प्रजापति को देवताओं में सर्वोच्च देव । किन्तु नारायणीयम् में इस यज्ञ के प्रमुख देवता प्रजापति के स्थान पर नारायण बना दिए गये हैं । इससे स्पष्ट है कि यहाँ तक आते-आते उन्होंने प्रजापति का स्थान पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया है । यह प्रसंग नारायण के भीतर देवत्रयी के समाहरण का भी घातक है ।

अन्य यज्ञ :-

राजा उपरिघर वसु से ही सम्बद्ध इतर आख्यान में एक अन्य यज्ञ का उल्लेख हुआ है जिसका नाम नहीं दिया गया है । देवताओं एवं ऋषियों ने संयुक्त रूप से यज्ञ किया । सर्वसम्मति से यह निम्न लिया गया कि हव्य के रूप में 'अज' प्रदान किया जायगा । परन्तु 'अज' शब्द का अर्थ दोनों पक्षों में विवाद का विषय बन गया । देवताओं के मत में अज का तात्पर्य 'छाग' था जबकि ऋषियों ने इसका अर्थ 'बीज' किया ।²

1- महा०. 12. 323. 18

2- वही. 12. 324. 3-4

देवताओं से भिन्न अपना मत रखी हुए अधियों ने यज्ञीय हिंता को स्तुति नहीं माना ।¹ विवाद के निमित्त हेतु राजा उपरिघर वसु को बुलाया गया जो उस समय आकाश में गमन कर रहे थे । इस आह्वान का एक कारण यह भी हो सकता है कि ये राजा विधिमूर्ख तात्काल सर्व अहितक रीति से यह किया करते थे । परन्तु उन्होंने देवताओं के पक्ष में निर्णय दिया । इस पक्षपातपूर्ण निर्णय से धुब्ध होकर अधियों ने राजा को शाप दे दिया । शाप के कारण राजा को पातान्म्यात करना पड़ा ।

मुक्तः दोनों एक भिन्न है । अश्वमेध एक की गणना बड़े यज्ञों में होती है जबकि दूसरा एक तन्मयतः उतना महत्वपूर्ण नहीं है । फिर भी दोनों एक विषय पर अत्यधिक साम्य रखी हैं, दोनों स्थलों पर यज्ञीय हिंता की आलोचना की गई है । ऋग्वेद ब्राह्मण के तेरहवें तथा चौदहवें काण्ड में वर्णित अश्वमेध एक में अश्व का वध कर दिया जाता था । नारायणीयसु में स्थिति भिन्नान्त विद्यमान है । परन्तु एक अन्य प्रसंग में यहाँ इन्द्र द्वारा किए गए अश्वमेध एक का वर्णन प्राप्त होता है जिसके अनुसार बृहस्पत्या के पाप से मुक्त होने के लिए उन्होंने अश्वमेध एक के अन्त में कृष्णतारंग अश्व का हविष्य प्रदान किया । इस एक के भी होता स्वर्य बृहत्पति थे ।² तन्मयी नारायणीयसु में यही एकमात्र प्रसंग है जहाँ ऋग्वेद पशु का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है अन्यथा तर्जित यज्ञों के अहितक होने की धोखा उघ्य स्वर से की गई है ।

वैदिक परम्परा :-

अश्वमेध एक का तर्जितप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है जहाँ अश्व को ऋग्वेद बताया गया है ।³ पुनः शुक्ल-यजुर्वेद⁴ तथा ऋग्वेद ब्राह्मण⁵ में यह प्रसंग विस्तार से वर्णित है । 'महाभारत' में पूर्ववर्ती संस्कृत

-
- 1- नैष धर्मः ततां देवा यन् कथ्येत् वै पशुः ।
इदं कृत्युर्न त्रैलोक्यं कथं कथ्येत् वै पशुः ॥ महा०, 12.324.5
 - 2- महा०, 12.329.40
 - 3- ऋग्वेद, ४.1.162, 163.
 - 4- शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय 22-25.
 - 5- ऋग्वेद ब्राह्मण, काण्ड, 13-14.

के आदिकाव्य 'रामायण' में भी प्राप्त वर्णन के अनुसार यज्ञवर्ती सम्राट बनने के लिए बहुत से राजाओं ने अवरोध या किया था जिसमें यज्ञ के अन्त में अजब की बलि प्रदान कर दी गई थी । स्पष्ट है कि वैदिक परम्परा में यज्ञीय हिंसा वैध थी । अनुष्ठान सम्बन्धी इस भिन्नता का कारण स्पष्ट है । यहाँ यजमान इन्द्र हैं जो एक देवता हैं । अगर उल्लिखित विवाद में देवता अज का अर्थ छाग करते हैं । इसीलिए अवरोध यज्ञ में उनके द्वारा पशुबलि स्वाभाविक है । इसके विपरीत मनुष्य यज्ञियों के अनुयायी प्रतीत होते हैं । अतएव इस यज्ञ परम्परा के अन्तर्गत वे अज के दूसरे अर्थ बीज का अनुममन करते हैं । एक तर्क यह भी रखा जा सकता है कि मनुष्य भी वेद-बीजों के जन्म का एक कारण है । इसीलिए उन्हें यजमान इन्हीं से करना चाहिए । परन्तु देवता विशेष रूप से प्रजापति मनुष्य, पशु आदि सभी का निर्माण करते हैं । इसीलिए उनके लिए पशुओं से यज्ञ अनिव्य है । यह विशेषाधिकार केवल प्रजापति का है । उनसे निम्न श्रेणी के देवता भी यह कार्य नहीं कर सकते ।

परन्तु आरंभकों एवं उपनिषदों का काल आते-आते इस शास्त्रतन्त्र हिंसा का विरोध मुखर होने लगा । इसीलिए आगम ग्रन्थों तक आते-आते यज्ञों की स्थिति नग्न हो गई । नारायणीयसू में तो पशुयज्ञ के आधार पर ही चारों युगों का विभाजन किया गया है । तत्तयुग की तर्जिब काल माना गया है क्योंकि उसमें यज्ञीय पशु अद्विष्ट होता है । अतएव इस काल में धर्म की चारों चरणों से युक्त खतलाया गया है । ऋता में यज्ञीय पशु के वध होने के कारण धर्म के केवल तीन चरण माने गये हैं । दापर मित्र काल है जिसमें धर्म तथा अधर्म संयुक्त रूप से वर्तमान रहते हैं । फलतः यहाँ धर्म दो चरणों से युक्त रहता है । कलिकाल में तो धर्म को मात्र एक चरणवाला कहा गया है ।¹ इससे स्पष्ट है कि जहाँ यज्ञ में पशुयज्ञ होगा वहाँ से धर्म का लोप प्रारम्भ हो जायगा ।

यक्षीय हिंसा के विरोध का कारण :-

यक्षीय हिंसा के शास्त्रसम्मत होने पर भी नारायणीयसू में उसके इतने तीव्र विरोध की वृष्टभूमि में दो सम्भावनाएँ उद्भावित की जा सकती हैं । प्रथम सम्भावना के अन्तर्गत इस विरोध का कारण बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रभाव हो सकता है । कतिपय विद्वान् 'शान्तिवर्ष' को महाभारत का अर्वाचीनतम अंश स्वीकार करते हैं । इस उठी क्राब्दी ई० पूर्व में बौद्ध तथा जैन दोनों ही धर्मों का सूत्रपात हो चुका था । दोनों धर्म अहिंसा के प्रबल समर्थक थे । इनका आविर्भाव ही ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड तथा पशुहिंसा के विरोध में हुआ था । इस बात को स्वीकार करने से यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि नारायणीयसू बौद्धधर्म से परवर्ती है । दूसरी सम्भावना के अन्तर्गत यह कहा जा सकता है कि अहिंसा का सिद्धान्त पूर्णतः बौद्ध तथा जैन धर्मों के द्वारा उद्भावित न होकर स्वयं वैदिक संहिताओं में बीज रूप में विद्यमान था । उपनिषदों तक आते-आते इसने अपने पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त कर लिया । सू्रवेद में गाय को 'अहन्या' तथा बैल को 'अहन्य' कहा गया है क्योंकि दोनों पशु यज्ञ में श्रेष्ठ माने गये हैं । इससे स्पष्ट है कि परम्परा में पशुवध के विद्यमान होने पर भी चेतना से अहिंसा अपना स्थान ग्रहण कर चुकी थी । अतएव वैदिक काल से ही दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चल रही थीं ।

एक तथ्य यह भी है कि नारायणीयसू में जिस पाँचरात्र या सारवत धर्म का विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है वह यक्षीय हिंसा का पूर्ण विरोध करता था । वासुदेवपुराण के छठे अध्याय में प्राप्त एक कथा के अनुसार नर, नारायण, हरि एवं कृष्ण के पिता धर्म थे तथा माता अहिंसा थीं । इस आठयान पर अपनी टिप्पणी देते हुए श्री भंडारकर कहते हैं कि "ये चार नाम एक ऐसे नूतन धार्मिक मत की प्रस्तावना से सम्बद्ध थे, जो अनीश्वरवादी नहीं था तथा जो धर्म एवं अहिंसा से सम्बन्धित था । " सांख्य योग आदि अन्य आस्तिक दार्शनिक विचारधाराओं के समान भागवत धर्म भी यक्षीय हिंसा को धुंझा तमस्तथा था । परन्तु सांख्य योग का विरोध उतना मुखर नहीं था जितना

1- रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, अजु०-महेश्वरी प्रसाद, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ०-57.

भाग्यतो का । इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से तंग होते हुए भी समाज का एक विशेष वर्ग हिंसा को यहाँ से बहिष्कृत करने का प्रयास कर रहा था ।

पाँचरात्रों के इस कार्य की तीव्र प्रतिक्रिया हुई । वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने विभिन्न स्मृतियों तथा पुराणों के माध्यम से इनका विरोध र करना प्रारम्भ कर दिया । इस सन्दर्भ में श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता ने स्कन्दपुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें पाँचरात्रों को अधम बताया गया है ।¹ इन्हें एक प्रकार से सभी धर्मों से बहिष्कृत मान लिया गया है ।² इसके विपरीत महाभारत, भागवतपुराण आदि कतिपय ग्रन्थ इस मूल की प्रशिक्षण के लिए प्रयास कर रहे थे । राजा उपरिपर वस्तु के आख्यान में पाँचरात्र धर्म के महान् अनुयायी तथा स्वभाव से पूर्णतः अहिंसक होते हुए भी वैदिक ब्राह्मणों का साथ देना राजा की विवशता थी । वैदिक यहाँ को उनके पद से च्युत करना सरल नहीं था । आख्यान के अन्त में ऋषि राजा को शाप दे देते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ऋषि बौद्धिक तथा नैतिक पक्ष का सर्व देवता पारम्परिक लट्टियाँ दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रहे थे । इस सन्दर्भ में एक सम्भावना यह प्रकट की जा सकती है कि ब्राह्मणों को पृथ्वी का देवता कहा गया है । अस्य इन्द्रादि देवताओं के समान वे भी यही व हिंसा के मूल को स्वीकार करते थे । उधर ब्रह्म तथा महावीर ने अब्राहम होने के कारण ही अपने धर्मों में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया । इससे प्रतीत होता है कि यहाँ भी देव तथा आर्ष दो परम्पराएँ कार्य कर रही थीं । देव परम्परा हिंसाप्रकृति थी जबकि आर्ष परम्परा अहिंसापरक ।

पाँचरात्रों को अवैदिक नहीं कहा जा सकता । इसका मूल स्रोत ऋग्वेद-संहिता का पुरुष सूक्त है जिसके देवता पुरुष तथा अग्नि नारायण हैं । जिस प्रकार से उपनिषद् पूर्णतया वैदिक होते हुए भी उपासना विधि में वेदों से अज्ञात भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं उसी प्रकार पाँचरात्र भी वेदप्रणीत होते हुए उनसे अज्ञात भिन्न हो सकते थे । फलतः ये बौद्धधर्म से प्रभावित नहीं प्रतीत होते । अहिंसा की भावना तो वैदिक काल से ही विद्यमान थी ।

1- पञ्चरात्रे च कापाले तथा कालमुखाय च ।

शाक्ते च दीक्षिताः यूयं भूय ब्राह्मणाधमाः ॥ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता
भारतीय दर्शन 31 पृ०-19

2- वही, पृ० 14-15.

नारायणीयसु में न केवल यक्षीय हिंसा सम्बन्धी मामल को सामने रखा गया है अपितु यक्ष से सम्बन्धित कुछ मौलिक प्रश्न भी उठाए गये हैं । देवताओं की पुजा यक्ष में क्यों होती है, उन्हें भागहर क्यों कहा जाता है, ये देवता स्वयं किस प्रकार यक्ष करते हैं, ये अपना यक्षभाग किसे प्रदान करते हैं ।¹ इन सभी प्रश्नों के उत्तर के रूप में नारायणीयसु में एक विस्तृत अध्याय प्राप्त होता है ।² ऋग्वेद में भी प्रजापति तूक्त में प्रजापति से यह प्रश्न किया गया है कि ' किस देवता के लिए हविष्य प्रदान करें ' ³ नारायणीयसु में ये प्रश्न स्वयं देवताओं ने ब्रह्मा से किये थे । ब्रह्मा उत्तर देने में असमर्थ थे । अतएव इनके प्रश्नों के समाधान के लिए उन्होंने देवताओं के साथ क्षीर सागर के उत्तर तट पर घोर तपस्या की जो ' महा-नियम ' के नाम से विख्यात है ।⁴ प्रसन्न होकर नारायण ने उन्हें दर्शन दिया तथा प्रवृत्तियुक्त कार्य करने के योग्य बताया । उन्होंने ब्रह्मा सहित सभी देवताओं को अपने निमित्त यक्ष करने का आदेश दिया । देवताओं ने यक्ष किया तथा इसमें नारायण के लिए विभिन्न भागों की कल्पना की । इस महायक्ष का नाम वैष्णव यक्ष था ।⁵ ये सभी भाग प्रभु क्षीरान । नारायण । के समीप उपस्थित हुए । इसमें जित देवता ने नारायण के लिए जितना यक्षभाग निश्चित किया था वह लौकिक यक्षों में उती तथा उतने ही भाग का अधिकारी माना गया ।⁶ उल्लेखनीय है कि इस यक्ष का अनुष्ठान देवताओं को प्रवृत्तिधर्म में नियुक्त करने के लिए हुआ था । उल्लेखनीय है कि जैसे पूर्व में अथर्ववेद यक्ष में प्रजापति का स्थान नारायण को प्रदान कर दिया गया है उती प्रकार यहाँ भी प्रश्नों को ब्रह्मा के समर्थ रखे जाने पर भी उनके उत्तर नारायण ने दिए हैं ।

-
- 1- महा०, 12.327.12-13.
 - 2- वही, 12.327.14-58.
 - 3- ऋग्वेद प्रविर्जा विधेय : 40, 10.101.1.
 - 4- महा०, 12.327.40-41.
 - 5- वही, 12.327.49
 - 6- वही, 12.327.55

लौकिक यज्ञों के विषय में नारायण ने देवताओं से कहा कि वे यज्ञों में मनुष्यों द्वारा पूजित होंगे तथा स्वयं देवता नारायण के ध्यान में रत होंगे । यह एक प्रकार से उपनिषदों के ही विचारों का अनुमोदन था कि यज्ञों के द्वारा ही ब्रह्मत्व प्राप्त किया जा सकता है । ये यज्ञ प्रतीकार्थक भी हो सकते हैं । नारायणीयसू के इस यज्ञ सम्बन्धी विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य जन के लिए ब्रह्मत्व से पूर्व देवत्व की प्राप्ति भी आवश्यक है ।

पितृकर्म :--

हिन्दुओं के धार्मिक अनुष्ठानों में देव तथा पितृकर्म का विशेष महत्त्व है । नारायणीयसू में देवकर्म के स्थ में नारायण की आराधना का विशद वर्णन प्राप्त होता है । यहीं एक सम्पूर्ण अध्याय में पितृकर्म का उल्लेख आया है ।¹ इसका अनुष्ठान तत्प्रथम स्वयं नारद ने किया था । परन्तु इससे तम्बद आठयान का वर्णन यहाँ नारायण ने किया है ।

नारद ने विधिवृत्त देवकर्म करने के पश्चात् पितृकर्म का अनुष्ठान किया ।² यह देखकर नर ने उनसे कुछ प्रश्न किये यथा, वे कल्पित देव तथा पितृकर्म में कितनी पूजा करते हैं ? यह कौन सा कर्म है तथा इससे कैसा फल प्राप्त होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए नारद ने नर से कहा कि उन्होंने ही पहले कहा था कि देवकर्म करना चाहिए क्योंकि यह वरम यज्ञ है । यज्ञ ही तनातन परमात्मा है । इसीलिए वह नित्य अष्टयय वैकुण्ठ की पूजा करते हैं । वैकुण्ठ नारायण से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है । नारद ब्रह्मा के प्रथम तैत्तिरीय पुत्र हैं । परमेष्ठी ने प्रसन्न होकर उनके पिता की उत्पत्ति किया था । इसीलिए नारायण के यजन के पश्चात् नारद पितरों की पूजा करते हैं । नारायण ही उनके पिता, माता तथा पितामह हैं । वे ही नारद द्वारा अनुष्ठित पितृयज्ञों * में पूजित होते हैं ।³

1- महा०, 12. 333.

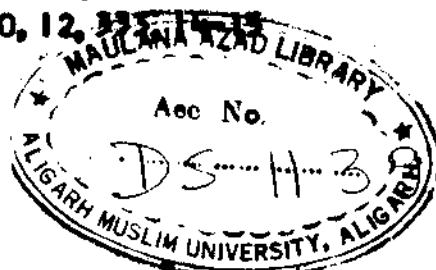
2- देव कृपा यन्त्राय पितृयं यज्ञे समाहितः । वही, 12. 333. 1.

3- वही, 12. 333. 2.

• एक दूसरी श्रुति के अनुसार पितरों ने पुत्रों का पूजन किया था । पितरों की वेद्युति के नष्ट होने पर उन्होंने इसे पुत्रों से पढ़ा था । इसीलिए मन्त्रदाता पुत्र पितृत्व को प्राप्त हुए हैं ।¹ इस पर टिप्पणी करते हुए नीलकण्ठ कहते हैं कि देवताओं ने अग्निष्वात्त आदि पुत्रों को वेद पढ़ाया । तत्पश्चात् उन्होंने अतुरों से युद्ध करने के लिए प्रस्थान किया । बहुत दिनों तक संग्राम-स्थल में रहने के कारण उनकी वेद्युति नष्ट हो गई । फलतः उन्होंने अग्निष्वात्त आदि पुत्रों से वेद पढ़ा ।² इसीलिए पुत्रों ने पितृत्व को प्राप्त किया । इस प्रकार पुत्रों तथा पितरों ने परस्पर एक दूसरे की पूजा की थी । देवताओं ने भूमि पर कुआँ खोदकर उत्तर तीन पिण्डों को स्थापित किया । तत्पश्चात् उन्होंने उनकी पूजा की । इस कथा के उपरान्त नारद ने नर नारायण से प्रतिप्रश्न किया कि इन पितरों की किस प्रकार पिण्डतंत्रा हुई ?³

नरनारायण ने उत्तर दिया कि प्राचीन काल में गोविन्द ने वाराह शरीर धारण करके नष्टप्राय सागरमेखला वसुधिरा का उद्धार किया था । पृथ्वी को अपने स्थान में स्थापित करके जल तथा कीचड़ से लिप्त जंगों से ही नारायण लौकिकार्थी उद्भूत हुए थे । ऋषाह्न ऋष्याकाल में उन्होंने अपनी दाढ़ में लगी मिट्टी से सहता तीन पिण्ड बनाए । भूमि पर कुआँ खोदकर उन्होंने उन्हें स्थापित किया ।⁴ अपनी ही विधि से तीनों पिण्डों का संकल्प कर, उनमें आत्मा का उद्देश्य कर नारायण ने विधि के अनुसार पितृकाये किया । उन्होंने पूर्वाभिमुख होकर अपने शरीर की उरमा से उत्पन्न त्रेहगर्भ तिलों से पिण्ड प्रोक्षित कर प्रदान किया ।⁴ तत्पश्चात् मर्यादा के स्थापनार्थ उन्होंने कहा कि लौकिकता होने पर भी मैं पितरों को उत्पन्न करने के लिए उद्भूत हुआ हूँ ।

-
- 1- श्रुतिश्चक्षुष्ययज्ञं देव पुत्रान्ति पितरोऽप्ययम् ।
वेद्युतिं पुण्ड्रां च पुनरध्यायिता ।
ततस्ते मन्त्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपेदिरे ॥ मत्तो, 12.333.8
- 2- नीलकण्ठ, मत्तो 1को तं०, पाद टिप्पणी, 12.345.8
- 3- मत्तो 1 पुना तं०, 12.333.10
- 4- मत्तो, 12.333.13



पितृकर्म का विचार करते ही उनकी दाढ़ों से बाहर निकलकर तीनों पिण्डों ने दक्षिण दिशा में घूँसी का आश्रय ग्रहण किया । इसीलिए वे ही पितर हैं । नीलकण्ठ के अनुसार विष्णु की शालग्राम मूर्ति के समान पितरों की मूर्तियाँ पिण्ड ही हैं ।¹ मूर्तिविहीन होने पर भी तीनों पितर नारायण से उत्पन्न पिण्डमूर्तियों को धारण करके लोक में तनातन पितर के स्थ में विद्यमान हुए । नारायण ही पिता, पितामह तथा प्रपितामह के स्थ में इन तीनों पिण्डों के मध्य वर्तमान हैं । वे ही तत्काल पुंस्व हैं । उनके लिए अन्य कोई पूज्य नहीं है । उनका कोई पिता नहीं है । वे ही तबके पितामह हैं ।² वे ही यहाँ कारणस्वस्थ हैं । इस वर्ण के पश्चात् वृषाकपि वराह वर्त पर बहुत ते पिण्ड प्रदान कर, अपनी ही आराधना करके वहाँ से अन्तर्हित हुए । यही कारण है कि पितरों की पिण्ड तैला हुई है ।³ जो व्यक्ति मन, वचन तथा कर्म से पितर, देव, गुरु, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, घूँसी तथा माता की पूजा करते हैं, वे विष्णु की ही पूजा करते हैं ।³

-
- 1- नीलकण्ठ, महा०।४०।४०।, पाट टिप्पणी, 12.345. 19
 2- महा०।पूना तं० 1, 12.333. 20
 3- ये यजन्ति पितृन् देवान् गुह्यैवातिथींस्तथा ।
 गार्ग्येव दिवमुखाय च पृथिवीं मातरं तथा ।
 कर्मणा मनसा, वाचा विष्णुमिव यजन्ति ते ॥ वही, 12.333. 24

पौराणिक आख्यान =====

नारायणीयम् में विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध पौराणिक आख्यान बहुलता से उपलब्ध हैं। यहाँ नारायण के पर्यायवाची नामों की निरूपित के क्रम में कई कथाएँ दी गई हैं।¹ न केवल नारायण अपितु इन्द्र इत्यादि इतर देवताओं से भी सम्बन्धित अनेक आख्यान हैं जो तत्कालीन संस्कृति में देवताओं के स्वल्प तथा महत्व का प्रतिपादन करते हैं। एक सम्पूर्ण अध्याय ही ब्राह्मणों के द्वारा विभिन्न वर्णों को दिए गये शापकथाओं के लिए है² जो उस समय समाज में ब्राह्मणों के वर्चस्व को संकेतित करता है। इन कथाओं में से कुछ का केवल उल्लेख कर दिया गया है परन्तु कुछ कथाएँ अत्यधिक विस्तृत क्लेश से युक्त हैं। इस अध्याय की सबसे बड़ी विशेषता इसकी गद्यात्मकता है। ऐसा नहीं है कि ये कथाएँ केवल नारायणीयम् में ही प्राप्त होती हैं, महाभारत के अन्य पर्वों, रामायण तथा पुराणों में भी इनका उल्लेख हुआ है। ये आख्यान सम्भवतः वैदिक एवं अवैदिक संस्कृतियों के संक्रमण काल से चले आ रहे हैं क्योंकि इनमें प्रायः दोनों संस्कृतियों के पारस्परिक संबंधों के तत्त्व प्राप्त होते हैं। संस्कृत वाङ्मय में इनका अनेकशः उल्लेख इस तथ्य का सूचक है कि ये कथाएँ अपने समय में बहुत प्रसिद्ध रही होंगी।

यहाँ प्राप्त लघुकाय आख्यानों में से तीन इन्द्र से सम्बद्ध हैं। ये हैं अहल्या का धर्म नष्ट करने के कारण इन्द्र का गौतम के शाप से हरिशम्भु होना, विश्वामित्र के निमित्त मुक्कविहीन होकर उनका मेघमृषात्व की प्राप्ति होना तथा अश्विनीकुमारों के यज्ञभाग का निषेध करने के कारण च्यवन ऋषि द्वारा उनकी ब्रह्म धारण की हुई दोनों भुजाओं का निश्चल किया जाना।³ इन कथाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जनसामान्य में इन्द्र का वह वैदिक स्वल्प, जिसमें वह सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित थे, अब लुप्त हो चुका था। श्रेष्ठ देवताओं में

- 1- महा०, 12. 328, 330.
- 2- वही, 12. 329.
- 3- वही, 12. 329-14.

उनकी गणना नहीं होती थी । इसका एक प्रबल कारण कृष्ण तथा इन्द्र के पारस्परिक विरोध की धारणा हो सकती है । नारायण या कृष्ण को प्रभावशाली सिद्ध करने के लिए ही सम्भवतः यहाँ इन्द्र को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

रुद्र के भी सम्बन्ध में यहाँ तीन कथाएँ दी गई हैं । रुद्र के द्वारा य्काविधात किए जाने के कारण दक्ष ने क्रोध होकर उनके ललाट पर तृतीय नेत्र उत्पन्न कर दिया था । त्रिपुरवासियों के वध के लिए दीक्षा के निमित्त निकट आए रुद्र के सिर से जटायें उखाड़कर गुह्याचार्य ने उन्हीं से स्पर्श उत्पन्न कर दिये थे । इनसे पीड़ित होने के कारण ही रुद्र नीलकण्ठ कहलाए । रुद्र के नीलकण्ठ होने की एक और कथा यहाँ दी गई है जिसके अनुसार प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में नारायण के हाथों से कण्ठ ग्रहण किए जाने के कारण रुद्र नीलकण्ठ हो गये थे ।¹ शिव के शरीर से लिये हुए सर्प आसुर मूल के हो सकते हैं । परन्तु इस आख्यान के अनुसार इन सर्पों का मूल स्वयं रुद्र की अपनी ही जटायें हैं । वस्तुतः इस मान्यता के अनुसार रुद्र के अद्वैतत्व की सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है । रुद्र में निहित अच्छे तथा बुरे तत्त्व उसके व्यक्तित्व के ही अंग हैं । प्रतिकूल प्रतीत होने वाली वस्तु असुरों के द्वारा देवत्व में उत्पादित विषयीकरण का परिणाम हो सकती है । नारायण के द्वारा रुद्र के कण्ठग्रहण का आख्यान दोनों के पारस्परिक संबंधों का प्रतिफलन प्रतीत होता है । इस संबंध का उल्लेख नारायणीयस्य में अन्यत्र भी कई स्थलों पर हुआ है ।²

त्वाष्ट्र की कथा :-

विश्वरूप त्वाष्ट्र की कथा यहाँ विस्तार से प्राप्त होती है ।³ यह भी कथा प्रमुख रूप से इन्द्र से ही सम्बद्ध है । त्वाष्ट्र का नाम त्रिशिरा भी

1- महा0, 12. 329. 14-15.

2- वही, 12. 329. 14; 330. 41-66.

3- वही, 12. 329. 17-27.

हैं । अतुर उनके मामा थे । त्वाष्ट्र पहले देवताओं के पुरोहित थे तथा यज्ञ में देवताओं को प्रत्यक्ष एवं अतुरों को परोक्ष रूप से भाग प्रदान करते थे । फलतः विरग्यकशिपु के नेतृत्व में राक्षसों ने अपनी बहन, जो त्वाष्ट्र की माता थी, उससे अपने पुत्र को सम्मानने के लिए कहा । विश्वस्य की माता ने नन्दनवन पहुँचकर उसे सम्झाया कि वह क्यों वरपक्ष की वृद्धि तथा मातुल पक्ष का नाश कर रहा है ? यज्ञभाग के इस प्रकार के विभाजन से देवता बड़ रहे हैं तथा अतुर क्षीण हो रहे हैं । माता का वचन अनुत्सर्गनीय समझकर त्वाष्ट्र ने घोर तपस्या की ।¹ इन्द्र ने भयभीत होकर उनका व्रत भंग करने हेतु अप्सरायें भेजीं । अप्सराओं पर आसक्त होकर उन्हें वशीभूत करने के लिए त्वाष्ट्र ने इन्द्रादि देवताओं का प्रभाव क्षीण करने के निमित्त मन्त्रों का जाप किया । यज्ञभाग एवं सोममान से वधित विश्वस्य त्रिशिरा के नाश के लिए इन्द्र ने ब्रह्मा से प्रार्थना की तथा उनके आदेशानुसार भूर्भुवःशोत्पन्न महर्षि दधीचि की अस्थियों से निर्मित अग्नि वज्र से, जिसमें विष्णु ने प्रवेश किया था, त्रिशिरा का वध किया तथा उनके तीनों तिरों को काट डाला । त्वाष्ट्र के शरीर को मक्कर त्वष्टा ने इन्द्रजनु वृत्रासुर को उत्पन्न किया ।² इन्द्र ने उसका भी वध कर दिया ।

द्विविध ब्रह्महत्या³ के भय से इन्द्र देवताओं के राज्य का परित्याग करके मानसरोवर में स्थित कमल के समीप उपस्थित हुए । योगबल से अगुस्य होकर

-
- 1- इस आठ्यायन के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय परिवार में माता का वचन अनतिक्रमणीय समझा जाता था ।
 - 2- यह उल्लिखनीय है कि त्वष्टा यहाँ पर जहाँ अपने पुत्र त्वाष्ट्र के शरीर को मक्कर इन्द्रजनु वृत्र का निर्माण करते हैं वहीं दूसरी ओर ऋग्वेद में ध्वनिकर्ता जज्ञ का निर्माण किया-- त्वष्टास्मै वज्रं त्वर्यं ततश्च । ऋ0, 1. 322.
 - 3- पुराकाल में ब्राह्मण अवध्य समझा जाता था । यदि अन्य वर्णों के द्वारा किसी ब्राह्मण की हत्या हो जाती थी तो उन्हें इस पाप का प्रायश्चित्त करना पड़ता था । यहाँ उल्लिखित प्रसंग के अनुसार अतुर होते हुए भी विश्वस्य त्वाष्ट्र जाट्या ब्राह्मण थे । उनकी आतुरी प्रवृत्तियों के कारण ही उन्हें अतुर कहा गया होगा । राजा सामान्यतः क्षत्रिय वर्ण के होते थे इसीलिए इन्द्र को ब्रह्महत्या का भय हुआ ।

दधीभूत ब्रह्महत्या का तात्पर्य त्वाष्ट्र एवं वृत्र की हत्या से है अर्थात् त्वाष्ट्र तथा दधीचि की हत्या से, यह अस्पष्ट है ।

उन्होंने कमलनाभ में प्रवेश किया । जगत् के ईश्वरविहीन होने पर देवताओं ने आयुध नहुष को इन्द्र के स्थान पर देवराज नियुक्त किया । इन्द्रपद प्राप्त करने के पश्चात् नहुष ने शची से आग्रह किया कि इन्द्र की सभी वस्तुओं पर मेरा अधिकार है अतएव इन्द्र की उपभुक्ता होने के कारण तुम्हारे भी उपभोग से मेरे लिए कोई अर्थ नहीं होगा । शची ने वृत्त के उल से उससे कुछ समय की याचना की । नहुष इसे स्वीकार कर वहाँ से चले गये । दुःखी तथा भयभीत शची ने बृहस्पति तथा उपश्रुति देवी¹ की सहायता से इन्द्र के समीप पहुँचकर सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा । इन्द्र के आदेशानुसार शची ने नहुष से कहा, 'मैंने इन्द्र के सभी महान वाहनों पर आरोहण किया है । तुम महर्षियों से जुते हुए किसी नवीन यान पर आनन्द होकर मेरे समीप आना ।' नहुष महर्षियुक्त यान पर बैठकर शची के समीप गए । महर्षियों के इस अपमान पर क्रुद्ध अगस्त्य मुनि ने नहुष को यान से गिरने तथा तर्जस्य में भूमि पर निवास करने का आग्रह दिया । नहुष के आग्रहान्तर होने से इन्द्रपद पुनः रिक्त हो गया ।

देवताओं ने इन्द्र को ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त करने के लिए भगवान् विष्णु से प्रार्थना की । विष्णु ने इन्द्र को वैष्णव अवमेध यज्ञ करने का आदेश दिया । इस यज्ञ के प्रमुख होता थे बृहस्पति तथा भूय पशु या कृष्णसारंग अश्व । इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या को स्त्री, अग्नि, वनस्पति तथा गौ इन चार स्थानों में विभक्त कर दिया । ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति पाकर उन्होंने अपना पद पुनः प्राप्त किया ।

यह कथा यहीं समाप्त हो जाती है । इसके अध्ययन से तत्कालीन संस्कृति के बहुत से पक्ष उद्घाटित होते हैं । समाज में उस समय ब्राह्मणों का प्रभुत्व था ,

- 1- बृहस्पति वाणी के देवता कहे गए हैं, उपश्रुति देवी का अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं है । मोनियर विलियम्स इसे अञ्जरीरिणी देववाणी मानते हैं जो भविष्य की सूचना देती है । इस प्रकार प्रकारान्तर से दोनों वाणी से सम्बद्ध हैं ।

स्वयं देवताओं के राजा इन्द्र भी उनके पुभाव तथा क्रोध से मुक्त नहीं थे । तपस्वियों एवं ऋषियों की प्रतिष्ठा थी चाहे वे असुर ही क्यों न हों । समाज असुर तपस्वियों को भी इतनी मान्यता प्रदान करता था जिससे उनकी हत्या के पश्चात् हत्यारा ब्रह्महत्या के पाप का भागी होता था । स्त्रियाँ पातिव्रत धर्म का पालन करती थीं । विवाहोपरान्त परपुत्र से सम्बन्ध निन्द्य था । छत्रवर्ती सम्राट बनने के लिए ही नहीं अपितु ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होने के लिए भी अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान होता था । देवराज के पद का अधिकारी इन्द्र के अतिरिक्त भी कोई हो सकता था । अश्वमेध यज्ञ के पूर्व में आया 'वैष्णवं' पद विष्णु की तत्त्वोच्यता ही नहीं प्रत्युत समाज में वैष्णव अथवा भागवत धर्म के बहुमान्य होने के लिये तथ्य को भी निरूपित करता है । नारायणीयम् का मूलधार पांचरात्र धर्म स्वल्पतः अहिंसक है । * अरण्य में उत्पन्न वस्तुओं से ही यज्ञ सम्पन्न होने चाहिए । हिंसा तत्तयुग का धर्म नहीं है । पशुवध रयाज्य है *¹, यह घोषणा यहाँ पुनः-पुनः दुहराई गई है । त्वष्टा के आठयान में श्रेष्ठ पशु के रूप में कृष्णतारंग अश्व का उल्लेख किया गया है । परन्तु यह यज्ञ मनुष्यों अथवा ऋषियों के द्वारा सम्पादित न होकर स्वयं देव इन्द्र के द्वारा किया गया है । नारायणीयम् में अन्यत्र कहीं भी श्रेष्ठ पशु का कोई प्रसंग नहीं प्राप्त होता । वैदिक अश्वमेध यज्ञ के तत्त्वोच्य देवता प्रजापति हैं । महाभारत के इस प्रकरण तक आते-आते यह स्थान विष्णु को प्राप्त हो जाता है । यह मान्यता इस युग में वैष्णव मत के प्राधान्य की धोतक है । यह आठयान पुनः इन्द्र की तत्त्वोच्यता में ह्रास का संकेत करता है । यहाँ इन्द्र का चित्रण एक सामान्य क्षत्रिय राजा के रूप में हुआ है जो अपने कार्यों के लिए ब्राह्मणों के द्वारा अभिशप्त हुए हैं ।

1- नैष धर्मः स्तां देवा यत्र वधेता वै पशुः ।

इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वधेता वै पशुः ॥ मत्तो, 12.324.5.

इसके अतिरिक्त भी कई स्थानों पर अहिंसक यज्ञों का उल्लेख है, यथा, 12.323.10, 18.324.3, 4; 327.73-76.

अन्य कथाएँ :-

चन्द्रकथा के ही अन्तर्गत हिरण्यकशिपु की भी कथा आती है ।

उत्तने वसिष्ठ का अपमान कर अन्य होता का वरण किया था । फलतः वसिष्ठ ने उसे यज्ञ के अपूर्ण रहते ही किसी विलक्षण प्राणी के द्वारा मृत्यु प्राप्त करने का शाप दिया था । इसी से हिरण्यकशिपु का वध हुआ ।¹ इस आख्यान से पता चलता है कि असुर भी यज्ञ करते थे ।

तीनों लोकों को अपने तीन पदों से मापते हुए जब आकाशगंगा में भरदाज के समीप गये तो उन्होंने हाथ में जल लेकर उसी से विष्णु के वक्षस्थल पर आघात किया । उसी समय से विष्णु का वक्षस्थल चिह्नयुक्त हो गया है । विष्णु के लक्षणयुक्त वक्षस्थल के विषय में एक और आख्यान इसी प्रकरण में प्राप्त होता है जो कि जनसामान्य में अधिक प्रसिद्ध है ।²

भुगु के शाप से अग्नि सर्वभूषी हुए हैं ।³

अदिति ने देवताओं के लिए अन्नमाक किया जिसका उद्देश्य अन्न ग्रहण कर असुरों का वध करना था । उसी समय व्रत समाप्त कर कुंभ ने भिक्षा की याचना की । अदिति ने देवताओं से पूर्व उन्हें भोजन देना अस्वीकार कर दिया । क्रुद्ध कुंभ ने अदिति के उदर पर आघात किया । फलस्वरूप मृत अण्ड से मार्तण्ड विवस्वान की उत्पत्ति हुई ।⁴

दक्ष की साठ कन्याओं में से सत्ताईस का विवाह चन्द्रमा से हुआ । चन्द्रमा का सर्वाधिक स्नेह रोहिणी पर था । अन्य पुत्रियों की व्यथा सुनकर दक्ष ने चन्द्रमा को यममागृस्त होने का शाप दे दिया । रुग्ण सोम ने ऋषियों के आदेशानुसार पश्चिम दिशा की ओर समुद्र के निकट हिरण्यमय सरोवर तीर्थ में स्नान किया तथा वे रोगमुक्त होकर दिव्य प्रभा से प्रभावित हुए । उसी समय से वह स्थान प्रभास तीर्थ⁵ के नाम से विख्यात है । पुनरपि दक्ष शाप के

1- महा०, 12. 329. 20.

2- महा०, 12. 330. 42-66, यहाँ यह चिह्न नारायण तथा रुद्र के पारस्परिक युद्ध का परिणाम था । नारायण ने रुद्र से कहा है ---

"अथ प्रभृति श्रीवत्सः शूलकोडर्यं भवत्वयम् ।" 12. 330. 65

3- वही, 12. 329. 43.

4- वही, 12. 329. 44.

5- मौनियर विलियम्स तथा आप्टे दोनों ही इसे एक सुविख्यात तीर्थस्थल मानते हैं जो द्वारका के निकट दक्खन के पश्चिमी तट पर अवस्थित था ।

कारण ही चन्द्रमा शुक्लपक्ष में पूर्णिमा तक बढ़ने के पश्चात् कृष्णपक्ष में अमावस्या तक क्षीण होते रहते हैं । शुक्लपक्ष में भी उनका शरीर मेरूका से आच्छन्न दिखाई देता है । इनका वर्ण मेरूदृश तथा निर्मल अंश अशकलक रूप में है । चन्द्रमा के कलंकित होने का यह आख्यान अद्भुत, नवीन तथा रोचक है ।¹ यह भी ज्ञात होता है कि उस समय यहाँ एक असाध्य रोग था । समाज में बलुपत्नी प्रथा प्रचलित थी परन्तु सभी का सम्मान समान रूप से होता था ।

स्थूलशिरा ऋषि ने तुमेरु पर्वत के पूर्वोत्तर में तपस्या की । उसी समय सर्वगन्धर्व पवित्र वायु ने उनका स्पर्श किया जिससे वे अत्यन्त तन्तुष्ट हुए परन्तु वनस्पतियों ने समयानुकूल अपनी कुसुमगीभा नहीं प्रदर्शित की । फलस्वरूप ऋषि ने उन्हें शाप दिया कि वे प्रत्येक काल में पुष्पवान् न हों ।² 'किसी भी पुष्प के खिलने का एक विशेष समय होता है,' यह आख्यान इस रीति तथ्य की ओर इंगित करता है ।

पुराकाल में नारायण लोकहितार्थ ब्रह्मासुख महर्षि हुए थे । तुमेरु पर्वत पर तपस्या में रत उन्होंने समुद्र का आह्वान किया । समुद्र ने इस आदेश की अवहेलना की । क्रुद्ध होकर नारायण ने उसे अपने शरीर की उष्णता से स्तिम्भित जलयुक्त तथा स्वेद से लवणयुक्त कर अपेय हो जाने का शाप दिया । नारायण ने यह भी कहा कि ब्रह्मासुख की सहायता से ही समुद्रजल पेय होगा ।³ आज भी यह परम्परा विद्यमान है । इससे समुद्रजल के तापणिक तथा अपेय होने का ज्ञान होता है । इस आख्यान से इसे उबालकर पीने की भी प्रक्रिया बोधित होती है ।

हिमालय की पुत्री उमा के लिए रुद्र ने अभिलाषा व्यक्त की । उसी समय महर्षि भृगु ने भी अपनी विवाहेच्छा प्रकट की । हिमालय ने उन्हें यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि उमा के निमित्त रुद्र ही ईप्सित वर हैं । क्रुद्ध भृगु ने हिमालय को शाप दे दिया कि वह रटनाकर न रह जाय ।⁴

1- महा0, 12. 329. 45-46.

2- वही, 12. 329. 47.

3- वही, 12. 329. 48.

4- वही, 12. 329. 49.

यह आख्यान पुराकाल में हिमालय क्षेत्र के रत्नतम्यन्त्र होने की ओर संकेत करता है । परन्तु महाभारतकाल तक वह रत्नविहीन हो चुका था । वहाँ वन, उनमें उपलब्ध वनस्पति तथा अकूत औषधियाँ तो थीं परन्तु रत्न नहीं थे ।

राजा उपरिचर वसु की कथा :-

मरीचि आदि तत्ता चित्रशिखण्डी ऋषियों ने एक लाख श्लोकों वाले चित्रशिखण्डिज शास्त्र की रचना की जो तम्भ्यतः पाँचरात्र तम्पुदाय का प्रथम ग्रन्थ था । इसके श्रवण से प्रसन्न नारायण ने आशीर्वाद दिया कि इसी ग्रन्थ से लोकधर्म प्रवृत्त होगा । ऋषाचार्य एवं बृहस्पति इसके प्रवक्ता होंगे । बृहस्पति से इस ग्रन्थ को राजा उपरिचर वसु प्राप्त करेंगे । उनकी मृत्यु के उपरान्त यह शास्त्र लुप्त हो जावेगा ।¹ राजा उपरिचर वसु अत्यन्त धार्मिक तथा नारायण भक्त बतलाए गये हैं । राजा के मित्र इन्द्र उन्हें अपनी शय्या पर आसन प्रदान करते थे । वह अपने सभीकर्म सात्वत विधि से किया करते थे ।² व्यवहार में पूर्णतः अहिंसक राजा वसु पाँचरात्र धर्म के महान् अनुयायी तथा प्रवर्तक थे । पाँचरात्र शास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मण उनके घर में अग्रभाजी थे । उन्होंने अपने शरीर से अनुमात्र भी पापकर्म नहीं किया था । उन्होंने अवश्य एक भी किया जिसमें प्रमुख ऋषिबु बृहस्पति थे । उस एक में रक्त, दूध आदि सोलह प्रमुख ऋषि दीक्षित हुए । इस अहिंसक एक में केवल आरम्यक वस्तुओं से देवताओं के एकभाग की कल्पना की गई थी । प्रसन्नमना नारायण ने राजा को स्वर्ग दर्शन दिया था ।³

राजा उपरिचर वसु से ही सम्बद्ध एक अन्य आख्यान⁴ में देवताओं तथा ऋषियों ने संयुक्त रूप से निर्णय किया कि 'अज' से एक करना चाहिए । परन्तु 'अज' के अर्थ पर दोनों पक्षों में विवाद हो गया । ऋषियों ने इसका अर्थ 'बीज' तथा देवताओं ने 'छाग' किया । विवाद के निरीयार्थ गगनचारी उपरिचर वसु को बुलाया गया । उन्होंने देवताओं के पक्ष में निर्णय दिया । क्रुद्ध होकर ऋषियों ने उन्हें स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पातालावास का शाप दे दिया । राजा की आकाश में विचरण करने की शक्ति भी क्षीण हो गई । अन्ततः नारायण की भक्ति

तथा

1- महा०, 12. 322. 26-48.

2- सर्वा सात्वतमास्थाय विधिं यके समाहितः । वही, 12. 322. 23

3- महा०, 12. 323. 1-11.

4- वही, 12. 324. 3-36.

तथा कृपा से उन्होंने तस्मीर ब्रह्मलोक में गमन किया । नारायण के अनन्य भक्त होने के कारण ही वे पाताल में ब्राह्मणों के द्वारा अनुष्ठित यज्ञों में उत्तम रीति से होम की हुई वस्तुधारा प्राप्त करते रहे ।

नारायण से सम्बद्ध अन्य आख्यान :-

नारायण के नामों के निर्वचन के तन्त्रों में कई आख्यान नारायणीयस्य में प्राप्त होते हैं । ये सभी आख्यान कृष्ण ने स्वयं कहे हैं । 'विष्णु' ने तीनों लोकों में कृष्ण न किया था ;¹ एकल तथा दित के द्वारा कुंए में गिराये गये श्वित नारायण का 'पुशिनर्भ' नाम लेकर बाहर आये थे ;² पिता बृहस्पति के द्वारा अभिषिप्त श्वि दीर्घतमा गभ से ही अन्धे थे । निरन्तर 'केजव' नाम का उच्चारण करते हुए नेत्रवान् होकर वे गौतम नाम से प्रसिद्ध हुए ;³ पूर्वकाल में नारायण ने 'गौचिन्द' स्थ में जलमग्ना वसुन्धरा का उद्धार किया था ;⁴ यास्क ने 'शिपिविष्ट' नाम से नारायण की स्तुति कर पाताल में नष्ट निरुक्त को प्राप्त किया था ;⁵ नारायण ने एकद्वीपी पराह के स्थ में पृथ्वी का उद्धार किया था ;⁶ नारायण की कृपा से राम के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से चलकर पांचाल श्वि ने वेदों का क्रमविभाग किया था , गान्धर्व मुनि ने भी क्रमाठ का नियंत्रण तथा शिक्षाग्रन्थों का प्रणयन किया था ;⁷ कण्डरीक कुल के राजा ब्रह्मदत्त ने सात जन्मों के जन्म-मरणवन्ति दुःखों का पुनः पुनः स्मरण कर योग सम्पत्ति प्राप्त की थी ;⁸ दक्षयज्ञ के पश्चात् नरनारायण तथा सृष्टि के मध्य भयंकर युद्ध हुआ था । यह कथा विस्तृत स्थ में है ।⁹ इसके अतिरिक्त नारायण की विभिन्न अवतारकथाओं का भी एक अध्याय में विवरण मिलता है ।¹⁰ हयगिरावतार का विशेष उल्लेख मिलता है ।¹¹

-
- | | |
|-----|----------------------|
| 1- | महा०, 12 . 328. 38. |
| 2- | वही, 12. 328. 40-42. |
| 3- | वही, 12. 328. 44-50. |
| 4- | वही, 12. 330. 5. |
| 5- | वही, 12. 330. 8. |
| 6- | वही, 12. 330. 27-28. |
| 7- | वही, 12. 330. 37-38. |
| 8- | वही, 12. 330. 39. |
| 9- | वही, 12. 330. 42-66. |
| 10- | वही, 12. 320. 72-94. |
| 11- | वही, 12. 335. 21-71. |

व्यास के जन्म -सम्बन्धी आख्यान में व्यास को नारायण का उठा अवतार बताया गया है ।¹ तातर्वे कल्प के प्रारम्भ में ब्रह्मा का तातर्वे जन्म कमल से हुआ और नारायण ने उन्हें विविध प्रजाओं की सृष्टि का आदेश दिया । कुछ दिनों के पश्चात् पृथ्वी अतुरों तथा गन्धर्वों के भार से आक्रान्त हुई । यह देखकर नारायण ने अपने विभिन्न अवतारों के द्वारा उनके नाश का संकल्प करते हुए 'भो' शब्द से सरस्वती ।वाणी । का उच्चारण किया । इस उच्चारण से अपान्तरतमा का जन्म हुआ । नारायण के आदेशानुसार उन्होंने वेदों की व्याख्या के लिए श्रुतियों का संग्रह तथा स्वायम्भुव मन्वन्तर में वेदों का विभाजन किया । अपान्तरतमा की तबस्या से प्रसन्न होकर नारायण ने आशीर्वाद दिया कि उनका जन्म वसिष्ठकुल में पराशरपुत्र के रूप में होगा । उनकी माता पितृगृह में न्यास करनेवाली एक अविवाहिता कन्या होगी । इसीलिए वे कानीनगर्भ कहलायेंगी ।² कलियुग में जन्म लेने के कारण वे कृष्णवर्ण होंगी । वे ही वेदों का विभाजन करेंगी,³ विविध धर्मों के कर्ता तथा ज्ञान-प्रवर्तक होने पर भी रागयुक्त होंगी किन्तु उनका पुत्र वीतरागी होगा । उसी समय भरतवंश में फूट पड़ेगी । व्यास के सहयोग के बिना ही आपत में युद्ध होगा जिसमें सम्पूर्ण वंश नष्ट हो जायेगा ।⁴

-
- 1- पितामहार्थं प्रवदन्ति षष्ठं महर्षिभार्ययविभक्तियुक्तसु ।
नारायणस्याश्वमेक्षुर्न देवायर्न वेदमहानिधानसु ।। महा०, 12. 337. 4
- 2- वही, 12. 337. 48.
- 3- तत्राप्यनेकधा वेदान्मेवत्यसे तपसान्वितः ।
कृष्णे युगे च तस्याप्ये कृष्णवर्णा भविष्यति ।। वही, 12. 337. 44.
- 4- वही, 12. 337. 4-57.

नारायणीयसु में वर्णित स्थान -- उनकी भौगोलिक स्थिति
तथा ऐतिहासिक महत्त्व ।

=====

श्वेतद्वीप :-

श्वेतद्वीप नारायण के अनन्य भक्तों का निवास-स्थान है ।

यहाँ नारायण की आधा प्रकृति आविर्भूत हुई थी । परन्तु अत्यन्त कठोर तपस्वी
का जीवन चित्ताने पर भी यहाँ प्रजापति के पुत्रों रुद्र, दित तथा अश्वि को नारायण
का दर्शन नहीं हो पाया था ।¹ यहीं पर नारद ने नारायण से पाँचरात्र धर्म का
ज्ञान प्राप्त किया था ।²

नारायणीयसु में श्वेतद्वीप की भौगोलिक स्थिति अस्पष्ट है ।
नर तथा नारायण की आधा प्रकृति के दर्शनार्थ नारद ने श्वेतद्वीप जाने की कामना
व्यक्त की । अपने योगबल से वे बदरिकाश्रम से सुमेरु पर्वत के शिखर पर उड़कर आए ।
उन्होंने पर्वतशिखर से वायव्यकोण पर अवस्थित अद्भुत श्वेतद्वीप को देखा ।
क्षीरसागर की उत्तर दिशा में स्थित यह विशाल द्वीप सुमेरु पर्वत के मूलस्थान से
बत्तीस हजार योजन की ऊँचाई पर था ।³ नारायणीयसु में अन्यत्र भी श्वेतद्वीप
विषयक यही भौगोलिक वर्णन उपलब्ध है ।⁴

महाभारत में अन्यत्र कहीं भी श्वेतद्वीप का कोई उल्लेख नहीं
है । श्री बी०एस० आण्टे के अनुसार श्वेतद्वीप इस महाद्वीप के अठारह लघु प्रभागों
में से एक है । मोनियर विलियम्स इसे एक पौराणिक स्थल अथवा काशी के समीप
स्थित कोई पवित्र स्थान मानते हैं । परन्तु इस उल्लेख से यह नहीं स्पष्ट हो पाता
कि मोनियर विलियम्स का अभिप्राय वाराणसी से है अथवा उत्तरकाशी से ।
श्वेतद्वीप का बदरिकाश्रम से सम्बन्ध इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यह काशी

1- महा०, 12.323.38.

2- वही, 12.326.

3- क्षीरोदधेस्ततरतो हि द्वीपः श्वेतः स नाम्ना प्रथितो विशालः ।

श्रोः सहस्रैः स हि योजनानां द्वात्रिंशतोऽर्धं कविभिर्निरूपितः ।। वही, 12.322.8.

4- वही, 12.323.23.

सम्भवतः उत्तरकाशी ही है। नारद गगनचारी हैं अतः श्वेतद्वीप से बदरिकाश्रम तक आवागमन के लिए वे आकाशमार्ग का उपयोग करते हैं तथा उस मार्ग को वे 'दूरम्भवानसु'¹ पद के द्वारा बोधित करते हैं। पर्वतों पर आकाशमार्ग से जाने में समय की बचत होती है तथा मार्ग भी छोटा हो जाता है। 'दूरम्भवानसु' पद इस तथ्य का सूचक है कि श्वेतद्वीप बदरिकाश्रम से बहुत दूर स्थित था।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार श्वेतद्वीप शुमेरु पर्वत के मूलस्थान से बत्तीस हजार योजन की ऊँचाई पर अवस्थित था। एक योजन प्रायः आठ मील के बराबर होता है। अतएव आधुनिक माप के अनुसार श्वेतद्वीप चार लाख नौ हजार छः सौ किलोमीटर की ऊँचाई पर बसा हुआ था।² यह ऊँचाई अतन्मय प्रतीत होती है। हिमालय की सर्वोच्च चोटी माउन्ट एवरेस्ट भी समुद्रतल से 29,000 फीट ऊँची है। यह ऊँचाई श्वेतद्वीप की ऊँचाई का बत्तीसवाँ अंश भी नहीं है।³ इसीलिए इतनी अधिक ऊँचाई पर किसी द्वीप का बसा होना अतन्मय है। श्वेतद्वीप के वर्णन के क्रम में किसी भी पर्वत, नदी, नगर अथवा ग्राम का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता, केवल वहाँ के निवासियों को श्वेतवर्ण का बताया गया है।

वर्तमान काल में श्वेतद्वीप नाम से भारत में या उसके समीप कोई प्रदेश नहीं प्राप्त होता। इससे स्पष्ट होता है कि श्वेतद्वीप कोई वास्तविक स्थान नहीं है। अतएव नारायणीयसु में उपलब्ध शतद्विधक वर्णन के आधार पर इसे बदरिकाश्रम, गन्धमादन अथवा हिमालय पर्वत जैसे वास्तविक भौगोलिक स्थानों के समकक्ष रखना अनुचित है। स्वयं शुमेरु पर्वत के विषय में ही सन्देह है कि यह वास्तविक था या पौराणिक कल्पना मात्र। श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त की मान्यता है कि श्वेतद्वीप पाँचरात्र पूजा का मूल स्थान था। यहीं से पाँचरात्र धर्म भारत आया। परन्तु विद्वान इसकी भौगोलिक स्थिति का अन्वेषण करने में असमर्थ रहे हैं।⁴ इससे

1- यद्गता दूरम्भवानसु ॥ श्री पुनरिहासः । महा०, 12.331.21.

2- 1 योजन = 8 मील, इसीलिए 32,000 योजन = 2,56,000 मील
= 4,09,600 किलोमीटर। क्योंकि 8 किलोमीटर = 5 मील।

3- 29,000 फीट = 0.646 योजन।

4- सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, इण्डियन फिलॉसफी 131, पृ०- 19.

नितान्त विपरीत श्री राधाकृष्णन् के अनुसार श्वेतद्वीप भारत का ही एक भाग था जो मेरु पर्वत के उत्तर में था ।¹ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि उस समय नारायणीय धर्म के तीन केन्द्र थे -- ऋष्यदेश, बदरीनाथ एवं श्वेतद्वीप ।² इन सभी विद्वानों के मतानुसार भौगोलिक स्थिति के अस्पष्ट होने पर भी निःसन्देह श्वेतद्वीप एक वास्तविक प्रदेश था परन्तु नारायणीयस्य के अध्ययनोपरान्त यह वास्तविकता सन्दिग्ध प्रतीत होने लगती है । श्वेतद्वीप को काल्पनिक स्वीकार करने का मुख्य आधार उसकी अस्वाभाविक ऊँचाई है ।

श्वेतद्वीप निवासी :-

विद्वानों द्वारा श्वेतद्वीप को पार्थिव लोक सिद्ध करने का मुख्य कारण नारायणीयस्य में वर्णित उसके श्वेतवर्ण निवासियों का प्रसंग हो सकता है । श्वेतद्वीप पहुँचकर , नारद ने वहाँ के निवासियों के दर्शन किए । वे अतीन्द्रिय, गिराहारी, निश्चल, तुल्ययुक्त, निष्पाप तथा श्वेतवर्ण पुरुष थे ; पापी व्यक्तियों के लिए वे अदर्शनीय थे; उनके शरीर चन्द्र के समान कठोर थे; मान-अमान को वे समान भाव से ग्रहण करते थे; वे दिव्याकृति तथा योगबल से सम्पन्न थे; उनके मस्तक छत्र जैसे , शब्द मेघमर्जन सदृश, भुजायें पुष्कर के समान तथा चरण कमलवत् अनेक रेखाओं से युक्त थे । वे श्वेतवर्ण के साठ दाँतों तथा आठ दंष्ट्राओं वाले थे³ । वे अपनी जिह्वाओं से सूर्य के द्वारा प्रकट विश्वमुख का लेहन कर रहे थे ।⁴ जो समस्त संसार का जनक है तथा जिसके अधीन समस्त वेद, धर्म, ज्ञान-स्वभाव मुनि एवं देवता हैं, उस देवाधिदेव को इन श्वेत पुरुषों ने अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया था ।⁵

1- राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन ।।।, पृ० - 460.

2- वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत- साक्षित्री ।31, पृ० -195 .

3- नीलकण्ठ के अनुसार साठ दाँतों से अभिप्राय जगत् स्वी चणक चर्चण में सम्यं साठ सम्यत्सरा हैं । वे अष्टदंष्ट्रा हैं अर्थात् आठ दिशाओं के समान सबके आश्रयक हैं । नीलकण्ठ, महा०, कलकत्ता संस्करण, पाठ दि०, 12. 335. 11.

यह व्याख्या सही है परन्तु इसका कोई आधार नारायणीयस्य में उपलब्ध नहीं होता ।

4- विश्ववक्त्र मातृ, शत्रु तथा सम्यत्सरात्मक महाकालमय है जिसका वे पापों की भाँति लेहन करते थे । वही.

5- महा० ।पूना सं०। 12. 322. 9-13.

प्रजापति के पुत्रों ने भी इन पुंस्वों का वर्णन किया है । वे नारायण के दर्शन की अभिलाषा से श्वेतद्वीप गये थे । परन्तु दर्शन योग्य आवश्यक साधना न कर सकने के कारण वे नारायण को प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख पाए । अदभुत विशेषताओं से सम्पन्न वहाँ के निवासियों के दर्शन मात्र से उन्हें सन्तुष्ट होना पड़ा ।¹ उनके द्वारा किया गया श्वेतद्वीप के निवासियों का वर्णन नारद द्वारा किए गये वर्णन से अत्यधिक साम्य रखता है । इसके अतिरिक्त प्रजापति के पुत्रों ने उन्हें चन्द्रमा के समान तेजस्वी, नारायण में निरत तथा एकान्तभाव से पुंस्वोत्तम में भक्ति रखने वाले एकान्तिन पुंस्वों² की स्तूति दी है जो अन्ततः सनातन पुंस्व सहस्रार्यि देव में प्रवेश कर जाते हैं । जो तपस्वी नहीं हैं वे अकस्मात् उनका दर्शन नहीं कर सकते । अतएव प्रजापति के पुत्रों ने पुनः ती वर्षों तक तपस्या की । तत्पश्चात् उन्होंने शुभलाक्षणसम्पन्न इन पुंस्वों के दर्शन किए । प्रतिदिन पूर्वाभिमुख तथा वृद्धांजलि होकर वे 'मानस जप' करते थे । इसमें वे 'ब्रह्म' शब्द का उच्चारण करते थे । प्रलयकालीन सूर्य के समान उनकी कान्ति थी । वहाँ के सभी निवासी समान रूप से तेजस्वी थे ।³ वह द्वीप ही मानों तेज का निवास था । स्वयं नारायण ने उन्हें पंचकाल एकान्तिन पुंस्वों की स्तूति दी है ।⁴ इन इन्द्रियविवर्जित पुंस्वों के दर्शन से ही हरि का दर्शन हो जाता है ।⁵ नारद एकान्तिन पुंस्वों में श्रेष्ठ कहे गये हैं ।⁶ इसीलिए उन्हें साक्षात् नारायण के दर्शन होते हैं । इससे स्पष्ट है कि नारायण की प्राप्ति परम श्रेष्ठ पांचरात्र मत से ही हो सकती है । श्वेतद्वीप निवासी ये एकान्तिन पुंस्व तमोगुण एवं रजोगुण से मुक्त, सिद्ध, महाभाग पुंस्व हैं⁷ तथा सदैव नारायण की पूजा में संलग्न रहते हैं ।

1- महा0।पुना सं0।, 12. 323. 24-26.

2- पांचरात्रानुयायी 'एकान्तिन' भी कहलाते हैं जिसका अर्थ नारायण का अनन्य भक्त है

3- महा0, 12. 323. 30-34.

4- वही, 12. 323. 42.

5- वही, 12. 323. 47.

6- वही, 12. 326. 12.

7- वही, 12. 326. 18-19.

यहाँ पर श्वेतद्वीप निवासियों के विषय में जो भी लक्षण बताए गये हैं उससे उनका लौकिकत्व सन्दिग्ध हो जाता है । वस्तुतः ये मुक्त पुरुष हैं । एक अन्य स्थल पर कृष्ण ने कहा है कि जो व्यक्ति एकान्त भाव से मेरी आराधना करते हैं उन्हीं को मोक्ष प्राप्त होता है । अन्य मानुषायियों को यह लाभ नहीं प्राप्त होता । नारायणभक्त चार प्रकार के कहे गये हैं --- जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी तथा ज्ञानी ।¹ मुक्त पुरुषों के विषय में कहा गया है कि वे एकादश इन्द्रिय, पंच प्राण तथा बुद्धि नामक तत्त्व गुणों, कर्मों तथा पन्द्रह कलाओं का परित्याग कर देते हैं । इनकी गति केवल है ।² ये एकान्तिन पुरुष ही नारायण में प्रवेश करते हैं ।³ इनका निवास-स्थान श्वेतद्वीप है । जो ब्राह्मण उपनिषदों के साथ वेदों का पाठ करते हैं उससे भी श्रेष्ठ इनकी गति मानी गई है ।⁴ एकान्तिन पुरुषों के विषय में तुनकर स्वयं युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया था कि ये ही लक्षण तो मुक्त पुरुषों के भी कहे गये हैं । अतः इस सम्बन्ध में मेरे सन्देह का निराकरण कीजिए ।⁵

श्वेतद्वीप : एक आध्यात्मिक स्थिति :-

युधिष्ठिर के प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न ये पुरुष अलौकिक थे । अलौकिक व्यक्तियों का निवास-स्थान भी अलौकिक होने चाहिये । इस दृष्टि से श्वेतद्वीप को एक आध्यात्मिक स्थिति मानना अधिक संगत प्रतीत होता है । वस्तुतः पौराणिक आख्यानो में आध्यात्मिक स्थितियों एवं वास्तविक स्थानों को इस प्रकार से मिश्रित कर दिया गया है कि वहाँ के दोनों के मध्य विवेक करना दुःसाध्य हो गया है । नारायणीय में भी

1- वही 0, 12. 328. 30.

2- वही, 12. 321. 38. 39.

3- वही, 12. 321. 42.

4- वही, 12. 336. 5-6.

5- ये मुक्ता भवन्तीह भरतसत्तम ।

तेषां लक्षणैस्तानि यच्च श्वेतद्वीपवासिनाम् ।

तस्मान्मे संशयं छिन्धि परं कौतुहलं हि मे ॥ वही, 12. 322. 14-15.

यही स्थिति है। यहाँ बदरिकाश्रम, गन्धमादन तथा हिमालय पर्वत तो वास्तविकता की कतौटी पर खड़े उतरते हैं परन्तु इसके विपरीत सुमेरु पर्वत एवं श्वेतद्वीप की स्थिति तन्दिग्ध है। फलतः नारद के स्वर्ग गमन की कल्पना भी एकांगी प्रतीत होती है।

वस्तुतः पूर्वोक्त विद्वानों के मतों की अपेक्षा भण्डारकर का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।¹ उनके अनुसार श्वेतद्वीप स्पष्टतः वह स्वर्ग है, जिसमें नारायण निवास करते हैं। यह विष्णु के वैकुण्ठ तथा गोपाल-कृष्ण के मोलोक का स्थानापन्न है। नारायण के इसी स्वर्ग में नारद गये थे। वहाँ उन्होंने नारायण का दर्शन किया तथा उनके स्कान्तिक धर्म ग्रहण किया। अतएव यह मानना आवश्यक नहीं है कि श्वेतद्वीप श्वेत जातियों से बना हुआ कोई "ईसाई" देश था।² साधना की अन्तिम परिणति साधक तथा साध्य के ऐकात्म्य भाव में होती है। साधक को स्वयं में ही आद्यविम्ब की उपस्थिति का अनुभव होता है। यह आत्मानुभव ही परब्रह्म का साक्षात्कार है जिसके लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः जब तक स्वर्ग की स्थिति विषयात्मक रूप में प्रमाणित नहीं हो जाती तब तक उसे गहन आध्यात्मिक स्थिति का काल्पनिक रूप समझना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस मानदण्ड को स्वीकार करते हुए श्वेतद्वीप को आध्यात्मिक स्थिति मानना अधिक संगत जान पड़ता है।

उपासकों के इस आध्यात्मिक, असांख्यिक लोक का 'श्वेतद्वीप' नाम प्रतीकात्मक है। उपासना के चरमोत्कर्ष में उपासक स्वयं में आत्मा या दिव्य सत्ता को प्रकट होते देखता है। दिव्यत्व ज्ञानमय है तथा ज्ञान का सर्वोत्तम प्रतीक प्रकाश है। इसीलिए श्वेतद्वीप में जब नारायण प्रकट होते हैं तो ऐसा आभास होता है मानों हजारों सूर्य की कान्ति एक साथ आविर्भूत हो गई हो।³ ज्ञान एवं प्रकाश श्वेतवर्ण

1- आर०जी० भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ०-36.

2- वेबर आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि श्वेतद्वीप कोई ईसाई देश था जहाँ से पाँचरात्र धर्म भारत आया। इस मान्यता की पुष्टिभूमि में विद्वानों ने यह तर्क दिया कि ईसाई धर्म तथा पाँचरात्र धर्म दोनों ही भक्ति को प्रसूता देते हैं जबकि भारत का वैदिक धर्म पूर्णतः यज्ञों के कर्मकाण्ड पर आधारित था।

3- अथ सूर्यसहस्रस्य प्रभां युग्मदुत्थिताम् ।

सहस्रा दृष्टवन्तः तम पुनरेव ब्रूत्यते ॥ मत्०, 12. 323. 35.

कहे गये हैं । इसीलिए भी दीप का ' श्वेत ' नाम तार्थिक है ।

तीनों गुणों में तत्त्वगुण श्वेतवर्ण माना गया है । श्वेतदीप में नारायण के अनन्य भक्त जीवन्मुक्त होकर निष्ठात करते हैं । अतएव यहाँ तमोगुण का आधिपत्य होना चाहिये । रजोगुण तथा तमोगुण के पूर्णमिश्र के उपरान्त तत्त्वगुण के शेष रह जाने के कारण भी यह दीप श्वेत हो सकता है । इसीलिए यहाँ के निष्ठाती भी श्वेत तथा चन्द्रमा के समान कान्तिमान् हो सकते हैं । गुण घेते तो सामान्य जन के लिए अदृश्य हैं किन्तु वे योग्य प्रत्यक्ष के विषय बनार गये हैं । इसी आधार पर उन्हें विभिन्न वर्ण प्रदान किए गये हैं । श्वेतदीप में नारायण का सूर्यप्रभा के समान आविर्भाव यहाँ तत्त्वगुण के तत्तात्मक स्वरूप में उनकी उपस्थिति को प्रदर्शित करता है । यह तत्तात्मक स्वरूप ही नारायण की माया है जिसका नारद को आकृतिबोध होता है । नारद जीवन्मुक्त महर्षि हैं इसीलिए उन्हें परमसत्ता का साक्षात्कार हुआ होगा । कठोर तपोमय जीवन बिताने के पश्चात् भी पुत्रावधि के पुत्र जीवन्मुक्त नहीं हो पाये थे । फलतः वे नारायण का दर्शन करने में असमर्थ रहे ।

बदरिकाश्रम :-

बदरिकाश्रम मूलतः नर और नारायण से सम्बद्ध है ।¹ इन दोनों का निष्ठातत्त्वान होने से बदरिकाश्रम एक तीर्थस्थल के स्वरूप में प्रसिद्ध है । परन्तु श्वेतदीप के समान इसकी तत्ता को काल्पनिक मानना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि आज भी इस ऐतिहासिक स्थल की गंगा भारत के वचित्रतम तीर्थों में होती है । यहाँ नरनारायण का प्रसिद्ध मन्दिर है । नारायणीयुग में नारायण के दशवतारों का विवरण प्राप्त होता है । इन अवतारों में दाशरथि राम तथा कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं क्योंकि इनसे सम्बन्धित स्थान— अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि वर्तमान काल में भी भारत के तीर्थ-स्थानों में अन्यतम हैं । इसी प्रकार नारायण से सम्बद्ध बदरिकाश्रम भी आधुनिक काल में वास्तविक भौगोलिक तत्ता रक्षता है ।

1- तैत्तिरीय-नारायणसूक्त तत्त्वसूक्तयुगी ।

बदरिकाश्रममाताप शब्दे कनकाश्रये ।। महाO, 12.32।.10.

बदरिकाश्रम की महाभारतकालीन भौगोलिक स्थिति :-

नारायणीयसु से बदरिकाश्रम की भौगोलिक स्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता । पहली बार बदरिकाश्रम आते समय नारद तुमरु पर्वत के शिखर से गन्धमादन पर्वत की चोटी पर उतरकर नरनारायण के आश्रम पर पहुँचे ।¹ वहाँ से वे श्वेतद्वीप गये जहाँ से लौटकर नरनारायण का पुनः दर्शन करने के लिए वे बदरिकाश्रम गये । इसके लिए उन्होंने उती मार्ग की सहायता ली जिससे वे पहली बार गये थे ।² इस वर्णन से प्रतीत होता है कि बदरिकाश्रम पर्वतों के मध्य अत्यधिक ऊँचाई पर अवस्थित था । वह तुमरु पर्वत से दूर गन्धमादन पर्वत के निकट स्थित था ।³ वनमर्व में इसे नरनारायण का आश्रयस्थान एवं गंगा का स्रोतस्थल बताया गया है ।⁴ परन्तु नारायणीयसु में गंगा या किसी अन्य नदी का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता । वैसे यह प्रसंग महत्वपूर्ण है तथा बदरिकाश्रम की वर्तमान भौगोलिक स्थिति के अधिक निकट प्रतीत होता है ।

महाभारत के अन्य पर्वों में भी बदरिकाश्रम का वर्णन प्राप्त होता है । वहाँ गंगा का जल उष्ण एवं शीतल है तथा बालू स्वर्णमिश्रित है । वहाँ शशि तथा तपस्वी प्रतिदिन नारायण को पूजाम करते हैं । वहाँ आदिदेव महायोगी मधुसूदन निवास करते हैं । धौम्य ने इसे तमस्त तंतार का तीर्थ तथा पुण्यात्माओं का भी पुण्य बताया है ।⁵ अन्य प्रसंग में कहा गया है कि बदरी में नरनारायण का आश्रम है जहाँ बहुत से फल देनेवाले पेड़ हैं । यह स्थान महर्षियों से सेवित है । यहाँ देव, गन्धर्व तथा अर्दशम्बाक निवास करते हैं । स्नेह्य देशों को पारकर बदरी आता है । यहाँ भूमि समतल तथा श्वेत है जो हिम के कौमल स्पर्श से युक्त है । इस भूमि की एक अन्य विशेषता है कि यह तदैव नीलशालिन से आच्छादित रहती है ।⁶

1- महाभारतगिरिः भृगात्प्रत्युक्तो गन्धमादनसु । बहा0, 12. 321. 13.

2- वही, 12. 326. 99; 331. 16.

3- ततः भ्रौ पुचक्राम पर्वतं गन्धमादनसु ।

निमपात च छात्तूनी विशालां बदरीम्नु ।। वही, 12. 321. 22.

4- वही, 3. 156.

5- वही, 3. 88. 22-27.

6- वही, 3. 145.

यह भी उल्लेख आता है कि बदरी तीर्थ में स्नान करके मनुष्य आत्मसंयमी तथा दीर्घायु होकर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।¹ यहीं वतिष्ठ का आश्रम है जहाँ तीन रातों तक उपवास करके जो मनुष्य घेर बाकर बारह वर्षों तक रहता है, वह नराधम तुल्य हो जाता है।² बदरिकाश्रम से ही स्वर्णशिरमण्डित मैनाक पर्वत एवं विन्दुतर दिखाई पड़ते हैं। यहीं भागीरथी है जिसका जल शीतल तथा अम्ल है। यह कृतीय है।³ एक अन्य अध्याय में बदरिकाश्रम को उत्तर दिशा में बताया गया है। यहाँ नारायण एवं कृष्ण का आश्रम तथा शाश्वत ब्रह्मा का निवास है। यहीं मन्दिराक्ष, मन्दाकिनी तथा जाम्बूनद हैं। यहाँ महादेव ने पतन्जाली गंगा को उठाकर तैत्तार को प्रदान किया था।⁴ एक अन्य प्रसंग में मनु वैदत्त्वता को बदरी का राजा बताया गया है जिसने एक पैर पर खड़े रहकर तपस्या की थी। यहाँ पुलस्त्यका का भी कौन है।⁵

बदरिकाश्रम का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि यहाँ सदैव पूजा-पाठ होता रहता है। यहाँ धर्मसंहिष्कृतों का प्रवेश कठिनाई से होता है।⁶ यहाँ शैव ने तपस्या की थी। यहाँ कृष्ण ती वर्षों तक वायुमध्म करते हुए एक पैर पर स्थित थे।⁷

वर्तमान भौगोलिक स्थिति :-

बदरिकाश्रम की वर्तमान भौगोलिक स्थिति प्रायः उपर्युक्त ही है। इसका वर्तमान नाम बदरीनाथ है। हिमालय की पहाड़ियों के मध्य यह समुद्रतल से दस हजार चार सौ फीट की ऊँचाई पर अवस्थित है। यहाँ नरनारायण का मन्दिर है तथा भगवान् की मूर्ति पद्मासन में विद्यमान है क्योंकि यहाँ उन्होंने

1- महा०, 3.83.13.

2- वही, 3.81.156, 157.

3- वही, 3.145.

4- वही, 5.109.

5- वही, 3.185.4.

6- वही, 3.145.

7- वही, 3.13.10.

तपस्या की थी। यह हिन्दुओं का परम पवित्र तीर्थस्थान है।¹ शंकराचार्य ने जिन चार स्थानों पर पीठों की स्थापना की थी, उनमें एक यह भी है। वर्तमान काल में बदरीनाथ गंगा के द्रोतस्थल के स्थ में विद्यमान नहीं है। यहाँ पाई जाने वाली नदी अलकनन्दा के नाम से विद्यमान है जो नीचे जाकर देवप्रयाग में भागीरथी से मिलती है तथा दोनों मिलकर गंगा कहलाती हैं। भागीरथी का उद्गम गौमुख से होता है और यही स्थान गंगा के द्रोतस्थल के स्थ में प्रसिद्ध है। देवप्रयाग से कुछ ऊपर जाकर ही गंगोत्री अथवा गौमुख तथा बदरीनाथ के मार्ग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। अतएव गंगा गौमुख से प्रारम्भ होती है न कि बदरीनाथ से। परन्तु इस सन्दर्भ में कुछ तथ्य दर्शनीय हैं :-

बदरीनाथ से पचीस किलोमीटर की दूरी पर अलकापुरी है जहाँ से आठ किलोमीटर आगे जाकर भीरथ तथा स्रोतस्थ नामक दो हिमनदों से अलकनन्दा का उद्गम होता है। यहीं कैलाश तथा मानसरोवर का मार्ग है। दूसरी ओर भागीरथी जब देवप्रयाग से पृथक् होती है तब यह मार्ग उत्तरकाशी एवं गंगोत्री होते हुए गौमुख तक चला जाता है। गौमुख से भी प्रायः सात किलोमीटर ऊपर गंगा नामक हिमनद से भागीरथी निकलती है। यह हिमनद गौमुख आकर समाप्त हो जाता है। * जिस पहाड़ से हिमनद निकलता है उसके दूसरी ओर अलकापुरी के पास से अलकनन्दा निकलती है ---- दोनों नदियाँ एक ही पर्वत के अलग-अलग से निकलकर समानान्तर और एक से जलसुवाह के साथ बहकर देवप्रयाग में मिलती हैं।² एक अन्य मानुसार गंगा का मूलस्रोत वास्तव में मानसरोवर है। हिमालय में गंगा की कई शाखाएँ हैं। मुख्य धारा भागीरथी है जो गंगोत्री से निकलती है। गंगा की जो धारा कैलाश तथा बदरिकाश्रम से बहती है, वह अलकनन्दा है।³

बदरी को नारायणीय में विशाला भी कहा गया है।⁴

1- कृष्ण नारायण गोसायनी, हिमालय दर्शन, पृ०-52.

2- वही, पृ० -73 .

3- विजयेन्द्र कुमार भायूर, ऐतिहासिक स्थानावली, पृ०- 262.

4- विशाला बदरीमुख, महा०, 12. 331. 22.

वर्तमान समय में भी बदरीनाथ को 'बदरी विशाल' कहा जाता है । उल्लेखनीय है कि नर एवं नारायण में से नर पूर्णतः बदरिकाश्रम से ही सम्बद्ध हैं । अन्यत्र कहीं उनका उल्लेख नहीं प्राप्त होता । दध्याक के पश्चात् जब शिव से नरनारायण का युद्ध हुआ था तो युद्धस्थल बदरिकाश्रम ही था ।¹

गन्धमादन पर्वत :-

बदरिकाश्रम जाने के लिए नारद भेरु पर्वत से गन्धमादन पर्वत पर उतरे । वहाँ से वे बदरिकाश्रम में नरनारायण के समीप पहुँचे ।² श्वेतदीप से लौटकर बदरिकाश्रम जाने के लिए नारद ने पुनः इसी मार्ग का अनुसरण दिया । इससे प्रतीत होता है कि गन्धमादन पर्वत बदरिकाश्रम के निकट ही कहीं अवस्थित था क्योंकि वहाँ से उतरकर आश्रम जाना पड़ता था । बदरीनाथ के समीप हिमालय का एक शिखर अभी तक इस नाम से विख्यात है । सम्भवतः उस समय दो गन्धमादन पर्वत प्रसिद्ध थे -- एक हिमालय के उत्तर में तथा दूसरा बदरीनाथ के निकट ।³ नारायणीयम् में इसी दूसरे गन्धमादन पर्वत का वर्णन है जिसपर नारद का अवतरण हुआ था । इससे स्पष्ट है कि उस समय बदरीनाथ के मार्ग में यह पर्वत अवश्य पड़ता था । इसी अध्याय में प्राप्त एक अन्य श्लोक के अनुसार नर नारायण ने गन्धमादन पर्वत पर तपस्या की थी ।⁴

महाभारत के अन्य पर्वों में गन्धमादन पर्वत के विषय में जो विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार यह हिमालय के पृष्ठ भाग में अवस्थित था ।⁵ तपस्याते गन्धमादन पर्वत पर जाया जा सकता था ।⁶ यहाँ वैद्यायत दृष्ट था जिसमें अश्वमेध आहुतियों को पढ़ते थे । इसी तरोवर में शशि ब्रह्म ने पितरों एवं देवताओं का विधिवत् तर्पण किया था । यहाँ बहुत से शशि तपस्या कर रहे थे ।⁷ यहीं घाटीक शशि ने तपस्या की थी ।⁸

1- तच्छ्रुत् भस्मात्कृत्वा दध्याकं तपित्तरम् ।

आचम्योः सहसागच्छद्गुप्यप्रसन्नमन्त्रिकात् ॥ महा०, 12. 330. 44.

2- वही, 12. 321. 13.

3- वही, 12. 331. 22.

4- वही, 12. 331. 41.

5- वही, 3. 157. 8.

6- वही, 3. 141. 22.

7- वही, 12. 126. 2-4.

8- वही, 12. 39. 39

मथुरा :-

श्रीकृष्ण ने कहा है कि द्वापर तथा कलि के तन्त्रिकाल में कंस के वधार्थ मथुरा में उनका जन्म होगा ।¹ वर्तमान काल में भी मथुरा को कृष्ण के जन्म से सम्बद्ध एक पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है । यह नगर कृष्ण के अलौकिक कार्यों से भी सम्बन्धित है । इसे भारत की सात पुण्यनगरियों में एक स्थान प्राप्त है ।

दारका :-

दारका के विषय में कहा गया है कि श्रीकृष्ण कुशस्थली को दारका के नाम से बताकर उसमें निवास करेंगे तथा दारका के श्रेष्ठ सात्वतों का नाश करके अपनी जाति के विनाश का पापकर्म करेंगे ।² दारका को ही नरक, भीम, मुर, पीठ अशुरों का निवास-स्थान बताया गया है ।³ तभाषर्व में इसे यादवों का नगर बताया गया है जहाँ से वे जरासन्ध के भय से भागे थे ।⁴ आज भी यह अपने पौराणिक रूप में ही प्रसिद्ध है ।

प्राग्ज्योतिषपुर :-

यह स्थान भी कृष्ण से सम्बद्ध है । कृष्ण ने कहा है कि वह प्राग्ज्योतिषपुर के श्रेष्ठशाली दानवों को मारकर उनका समस्त वैभव कुशस्थली लायेंगे ।⁵ तभाषर्व में इसे भागदत्त की राजधानी बताया गया है ।⁶ वर्तमान काल में इस नाम से भारतवर्ष में कोई स्थान प्राप्त नहीं होता ।

गिरिपुत्र :-

गिरिपुत्र को बलवान् अशुरराज जरासन्ध की राजधानी कहा गया है जो कृष्ण से द्वारा मारा गया था ।⁷ अब यह स्थान राजगृह के नाम से प्रसिद्ध है ।

-
- 1- महा०, 12.326.82.
 - 2- वही, 12.326.83-92.
 - 3- वही, 12.326.84.
 - 4- वही, 2.14.
 - 5- वही, 12.326.85.
 - 6- वही, 100त०1, 2.26.
 - 7- महा०, 1पूना त०1, 12.326.89.

मानसरोवर :-

ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र ने कमलनाभ में प्रवेश किया था ।¹ यह पवित्र तरोवर कैलाश पर्वत पर स्थित था । वर्तमान काल में भी यह भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित एक झील है जिसके समीप कैलाश पर्वत है ।

प्रभात तीर्थ :-

इसे हिरण्य तरोवर तीर्थ भी कहा गया है । यक्ष्मा रोग से ग्रस्त तौम इसमें स्नान करके रोग तथा पाप से मुक्त हुए थे । वे इस तीर्थ में दिव्य प्रभा से प्रभासित हुए थे । इसीलिए इसे प्रभाततीर्थ कहा गया है ।² यह सम्भवतः दारका के निकट स्थित एक सुविख्यात तीर्थ-स्थान था । महाभारत के अन्य पर्वों में भी इसका उल्लेख हुआ है । आदिपर्व के अनुसार यह पश्चिमोत्तर तट पर स्थित था जहाँ अर्जुन कृष्ण से मिले थे ।³ यहाँ कृष्ण ने तपस्या की थी ।⁴ यह तीर्थ तमुद्रातट पर तुराष्ट्रों के देश में स्थित था ।⁵ यहीं ई वृष्णिणों का नाश हुआ था ।⁶

वैजयन्त पर्वत :-

धीरसागर के मध्य स्वर्णप्रभा के समान कान्तिमान् वैजयन्त पर्वत स्थित था । ब्रह्मा वैराज तदन से निरूप्य यहाँ आकर एकान्त में अध्यात्म-चिन्तन करते थे ।⁷ महाभारत में अन्यत्र इसका कोई कहीं नहीं प्राप्त होता ।

वैराज तदन :-

यह ब्रह्मा का निवास-स्थान था ।⁸

हिमालय पर्वत :-

व्यास तदैव हिमगिरि पर निवास करते थे ।⁹ अपने पाँच उत्तम

-
- 1- महा०, पूना सं०, 12. 329. 34.
 - 2- वही, 12. 329. 46.
 - 3- महा०, कलकत्ता सं०, 1. 218.
 - 4- वही, 1. 218.
 - 5- वही, 3. 88.
 - 6- महा०, पूना सं०, 16. 3. 66, 71.
 - 7- वही, 12. 338. 9, 10.
 - 8- वही, 12. 338. 10.
 - 9- वही, 12. 337. 9.

शिव, तुम्हारे, जैमिनि, बेल, वैशम्पायन तथा शुक के साथ वे यहाँ भूगर्भों में घिरे महादेव की भाँति विराजमान रहते थे ।

ऐतिहासिक दृष्टि से नारायणीय में प्राप्त इन स्थानों में से अधिकांश वास्तविक लगता रहती हैं तथा भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । अभी भी ये स्थान उती स्वरूप में प्रसिद्ध हैं जित स्वरूप में वे वीराणिक काल में थे । वरन्तु कुछ स्थान यथा, श्वेतदीप, वैजयन्त बरत, वीराज तदन, ३ क्षीरतागर आदि अबना कोई भौगोलिक अस्तित्व नहीं रहती । ये स्थान वस्तुतः मनुष्य की आध्यात्मिक योजना से सम्बन्ध हैं जो मन की उच्च से उच्चतर दशा को निरूपित करते हैं । कर्त्ता: ये स्थान काल्पनिक हैं । सामान्य स्वरूप से ये स्थान वीराणिक माने गये हैं । किन्तु वीराणिक होने का तात्पर्य काल्पनिक नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी कल्पना का आधार मानस के आध्यात्म की कुछ गहन भूमियाँ हैं जहाँ अज्ञान की अपेक्षा ज्ञान का अधिपत्य है । इतील्लिह इन्हें ज्योतिर्मय स्वरूप में उपस्थित किया गया है । बरत आध्यात्मिक ऊँचाई का प्रतीक है जबकि तमुद्र गहराई का । दीप उसके विस्तार और तृप्तिता को उपस्थापित करता है । तदन उसकी गम्भीरता और आनन्दमयता का सूचक है एवं तीर्थ उसकी बहिष्कृता को बताता है ।

=====

नारायणीयसु में प्रकीर्ण वस्तुओं के उल्लेख

मणि और धातु :-

नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण का दर्शन किया । स्वर्गीय में अतमर्ष नारद ने उनकी कान्ति को विभिन्न मणियों के सदृश बताया है । इसी तन्त्र में नारायणीयसु में अनेक मणियों का उल्लेख किया गया है । ये हैं-- स्फटिक, ¹प्रवाल, ²वैदूर्य, ³नीलवैदूर्य, ⁴इन्द्रनील, ⁵श्वं मुक्ता⁶ । धातुओं में यहाँ केवल स्वर्ण का उल्लेख हुआ है ।⁷

अस्त्र :-

अनेक स्थलों पर युद्ध का वर्णन करते हुए भी अस्त्रों का उल्लेख नहीं के बराबर है । नरनारायण तथा रुद्र के मध्य हुए युद्ध में केवल दो अस्त्रों का प्रयोग किया गया है, ये हैं-- त्रिशूल⁸ तथा परशु⁹ । युद्धस्थल में नर ने तरकङ्के को महान् परशु के रूप में परिवर्तित किया था । त्रिशूल और परशु के उल्लेख से लौह के ज्ञान का भी अनुमान किया जा सकता है ।

नारायणीयसु के समय में प्रचलित ग्रन्थ :-

महाभारत वैदिक तथा लौकिक संस्कृत-साहित्य के मध्य की एक महत्वपूर्ण कड़ी है । फलतः इस काल तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना हो चुकी होगी । इनमें से कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख नारायणीयसु में भी

-
- | | |
|----------|---------------------|
| 1- | महा०, 12. 326. 3. |
| 2- 3, | वही, 12. 326. 4. |
| 4, 5, 6- | वही, 12. 326. 5. |
| 7- | वही, 12. 326. 4, 5. |
| 8- | वही, 12. 330. 44 |
| 9- | वही, 12. 330. 48. |

प्राप्त होता है । ये हैं --- संहितायें¹, श्रौतपथ ब्राह्मण², आरण्यक³, उपनिषद्⁴, निरुक्त⁵, सिद्धन्तु⁶, ज्योतिष⁷, तथा आयुर्वेद⁸ । न केवल संहिताओं अपितु उनकी शाखाओं का भी उल्लेख यहाँ प्राप्त होता है ।⁹ जैसी कि पौराणिक मान्यता है, इस समय तक व्यास के द्वारा संहिताओं का पृथक्करण किया जा चुका था ।¹⁰ संहिताओं के क्रम पाठ का निर्धारण हो चुका था । इस सन्दर्भ में वाश्रुत्यगोत्रीय पांचाल तथा गाल्य नामक अधियों के नाम प्राप्त होते हैं ।¹¹ व्यास ने अपने जिन पांच अधि-शिष्यों को संहिताओं के साथ महाभारत का अध्ययन कराया था उनके भी नाम यहाँ दिये गये हैं । ये अधि हैं ---- तुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन तथा व्यासकृत शुक ।¹² यहाँ मरीचि आदि द्वारा रचित 'चित्रशिखण्डि' शास्त्र¹³ का भी विस्तृत वर्णन उपलब्ध है जो कालान्तर में लुप्त हो गया । राम तथा रावणवध के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस समय तक रामायण की रचना पूरी हो चुकी थी ।¹⁴ पुराणों के विषय में भी कुछ श्लोक प्राप्त होते हैं ।¹⁵ महाभारत के विषि यहाँ भारत¹⁶ तथा महाभारत¹⁷, दोनों पदों का प्रयोग किया गया है । यह उल्लेख इस तथ्य को निर्दिष्ट करता है कि नारायणीयस्य के काल तक महाभारत के दोनों रूप प्रचलन में आ चुके थे । महाभारत के कर्तृत्व पर कोई सन्देह नहीं व्यक्त करके व्यास को ही इसका श्रेय प्रदान किया गया है ।¹⁸ यास्क स्व उनके ग्रन्थ निरुक्त के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है

-
- | | |
|-----|---------------------------------|
| 1- | महा०, 12.327.1, 58. |
| 2- | वही, 12.328.8. |
| 3- | वही, 12.337.1. |
| 4- | वही, 12.336.5. |
| 5- | वही, 12.330.8. |
| 6- | वही, 12.330.23. |
| 7- | वही, 12.328.8. |
| 8- | वही, 12.328.9. |
| 9- | वही, 12.330.33-34 |
| 10- | वही, 12.337.40. |
| 11- | वही, 12.330.37-38. |
| 12- | वही, 12.327.16, 337.11. |
| 13- | वही, 12.322.28, 48. |
| 14- | वही, 12.326.78-81. |
| 15- | वही, 12.321.24, 326.95, 328.53. |
| 16- | वही, 12.337.13, 14. |
| 17- | वही, 12.327.18. |
| 18- | वही, 12.337.10. |

कि महाभारत एवं नारायणीयसु यास्क के परवर्ती हैं । यास्क की भाषा बहुत प्राचीन है । उन्हें प्रायः तातवी-आखी शताब्दी का माना जाता है । अतएव समस्त महाभारत ग्रन्थ का प्रणयन निरुक्त के कुछ समय पश्चात् का होना चाहिए ।

नारायणीयसु के काल तक प्रचलित दार्शनिक मत :-

इस समय तक विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के मध्य कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं बन सकी थी । अतएव इनका उल्लेख प्रायः सम्मिलित रूप में हुआ है । इस संबंध में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि ये दार्शनिक मत उस समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे । इनमें प्रमुख थे --- वैदिक एवं आरण्यक ६ दर्शन, तांड्य, योग और पांचरात्र मत ।¹ अन्य स्थलों पर जीपनिषद्² तथा पाशुमत³ दर्शनों का भी उल्लेख किया गया है । इतने पूर्व वर्णित श्लोक में प्रयुक्त वेद का अर्थ वैदिक दर्शन एवं वेदान्त दोनों ही सम्भव है । यहाँ तांड्य, योग, वेद, आरण्यक एवं पांचरात्र को ज्ञान कहा गया है । विभिन्न दर्शनों के प्रवर्तकों का भी उल्लेख नारायणीयसु में प्राप्त होता है । तांड्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल तथा योग के हिरण्यगम्भी कहे गये हैं ; अग्नि अपान्तरतमा व्यास वेदाचार्य हैं; पाशुमतशास्त्र के ज्ञान का वर्णन स्वयं उमापति शिष्य ने किया है तथा ६ नारायण को पांचरात्रवेत्ता कहा गया है ।⁴ विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के एकत्व तथा भिन्नता को एक साथ प्रदर्शित करते हुए यहाँ कहा गया है कि ये सभी दर्शन परस्पर एक होने पर भी एक दूसरे के अंगत्वस्थ हैं । यही एकान्तिनों का नारायणात्मक धर्म है ।⁵

नातदीय सूक्त से साम्य :-

नारायणीयसु में एक सम्पूर्ण अध्याय गद्य में लिखित है ।⁶ इसकी

- 1- तांड्य योगं पंचरात्रं वेदारण्यकमेव च ।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मस्य लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥ महा०, 12.337.1
- 2- वही, 12.328.8.
- 3- वही, 12, 337.59.
- 4- वही, 12.337.60-63.
- 5- एवमेकं तांड्ययोगं वेदारण्यकमेव च ।
परस्परान्येतानि पंचरात्रं च कथ्यते ।
एव एकान्तिनां धर्मो नारायणरात्मकः ॥ वही, 12.336.76.
- 6- वही, 12.329.

शैली बहुत कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों तथा निरुक्त से मिलती है । इसके प्रारम्भिक अंश में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है । यह वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त पर आधारित है ।¹ दोनों ही स्थानों पर कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में न तत् था और न अतत्, न ही दिन था और न रात² था एकमात्र अन्धकार । नारायणीयसु के अनुसार " उक्त अन्धकार से पद्मयोनि पुंस्व का जन्म हुआ । पुंस्व से ब्रह्मा ने जन्म लिया । "⁴ इस वर्णन के सम्बन्ध नासदीय सूक्त में आया है कि 'तुच्छ के द्वारा जब आभूतत्त्व आवृत्त था तो तपस्या की महिमा से एक तत्त्व आविर्भूत हुआ । "⁵ यह 'एक' तत्त्व ही नारायणीयसु में नारायण के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

व्याकरण के आर्थ प्रयोग :-

नारायणीयसु में कुछ पदों के अपाणिनीय एवं आर्थ प्रयोग प्राप्त होते हैं । ये पद निम्नलिखित हैं :-----

- क- तर्क्या⁶-- यह आर्थ प्रयोग है । यहाँ पर 'तर्कण' होना चाहिए था ।
 ख - नमस्कृत्य⁷--पूर्व में नमस् पद के होने पर कृ धातु से ल्यप् प्रत्यय होना चाहिए न कि क्त्वा प्रत्यय । अतएव संस्कृत पद यहाँ 'नमस्कृत्य' होगा ।

- 1- ऋग्वेद, 10, 129.
 2- 1क। नासीदहो न रात्रिरासीत् । न तदासीन्नासदासीत् । महा0, 12. 329. 4
 1ख। नासदासीन्ना तदासीत्तदासीं नासीद्वजो नो व्योमा पुरो यत् । ऋ0, 10. 129-1
 1ग। न भूयुरासीदमूर्ता न तर्हि न राज्या अहं न आसीत्पुकेत । वही, 10. 129. 2
 34क। तम एव पुरस्तादभ्यदिशवजसु । महा0, 12. 329. 4
 1ख। तम आसीत्तमो गृहमोहप्रकेत तलिलं तमो इदम् । ऋ0, 10. 129. 3
 4- तप्येदानीं तमः तमस्य पुंस्वस्य पद्मयोनेर्ब्रह्माः प्रादुर्भवः सः पुंस्वः प्रजाः सितुषमाणी नेत्राभ्यामग्निषोमौ तर्ज । महा0, 12. 329. 5
 5- तुच्छेनाभवपिहितं यदासीत्तत्तत्तन्महिनाजायौकम् ॥ ऋ0, 10. 129. 3
 6- महा0, 12. 321. 5.
 7- वही, 12. 321. 23.

ग- देवेभिः¹ :- ' देवेभिः ' वैदिक प्रयोग है । तृतीया बहुवचन में यहाँ ' देवैः ' पद होना चाहिए था ।

घ- प्रणयित्वा²:- यह आर्ष प्रयोग है । संस्कृत पद ' प्रणीय ' होगा ।

ङ0- पितरः³:- यह पद ' पितॄन् ' के स्थान पर प्रयुक्त है ।

च- ददृशिरै⁴:- यह ' ददृशुः ' का आर्ष प्रयोग है ।

छ- तेजोदभ्यस्य⁵:- यह आर्ष सन्धि है ।

ज- साधु⁶:- बहुवचन में प्रयुक्त यह पद सर्वथा आर्ष है ।

पाणिनि के अनुसार यहाँ ' साध्यः ' होना चाहिए ।

वर्णाश्रम व्यवस्था :-

वर्णाश्रम व्यवस्था आर्य-संस्कृति का मूलधार है । इस विषय में ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में संकेत उपलब्ध होता है जहाँ पुरुष के विभिन्न अवयवों से चारों वर्गों की उत्पत्ति बतायी गई है ।⁷ समाज की यह विभाजन व्यवस्था कालान्तर में और भी दृढ़ हुई । स्मृति-ग्रन्थों में इसका स्पष्ट तथा विशद उल्लेख प्राप्त होता है । महाभारत काल तक यह व्यवस्था निश्चित रूप से अपने पूर्वस्थ में विद्यमान थी ।

नारायणीयस्य का पहला ही श्लोक आश्रम व्यवस्था से सम्बद्ध है । वहाँ युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया कि चारों आश्रमों का पालन करने वाले किसी भी पुरुष को मोक्षप्राप्ति के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए ।⁸ इसी अध्याय में एक स्थल पर नारद ने नारायण से कहा है कि चारों आश्रमों में व्यक्ति उनकी पूजा करते हैं ।⁹ अन्यत्र भी समाज में आश्रम

1- महा0, 12. 329. 6.

2- वही, 12. 330. 38.

3- वही, 12. 333. 16.

4- वही, 12. 326. 12.

5- वही, 12. 329. 2.

6- वही, 12. 339. 19.

7- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कुतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदमस्य शूद्रो अजायत ॥ ऋ0, 10. 90. 12.

8- गृहस्थी ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।

यः इच्छेत्सिद्धिमाप्नुयात् देवतां कां यजेत सः ॥ महा0, 12. 321. 1.

9- वही, 12. 321. 25.

व्यवस्था के पालन के विषय में संकेत प्राप्त होते हैं ।¹

आश्रम व्यवस्था के साथ-साथ समाज की व्यवस्था के नियमों का भी पालन कर रहा था । इस व्यवस्था के अनुसार ही ब्राह्मणों को यहाँ सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है । वे बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे । इसीलिए न केवल समाज को शिक्षित करने का अपितु उते कदाचारों से विमुख करने का भी प्रमुख दायित्व उन्हीं पर था । दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने की दो विधियाँ थीं -- राजदण्ड तथा शापदण्ड । राजदण्ड का प्रयोग शासकवर्ग करता था तथा शापदण्ड का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था । इस प्रकार दण्ड देने में उनकी निर्णायक भूमिका होती थी । देवताओं के पक्ष में निर्णय देने तथा शत्रुओं की अवमानना करने के फलस्वरूप ही राजा उपरिघर वसु शत्रुओं के द्वारा अभिशप्त हुए थे तथा उन्हें पातालवासी करना पड़ा था ।² यह आख्यान इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि ब्राह्मण निर्णय होकर अपने निर्णय दिया करते थे जिनका पालन करना शेष तीनों वर्गों के लिए अनिवार्य था । षाँचरात्र-धर्म के माहात्म्य में एक स्थान पर कहा गया है कि षाँचरात्र धर्मानुयायी ब्राह्मण वेदज्ञ, क्षत्रिय विजयी, वैश्य धनवान् तथा शुद्र सुखी होते हैं ।³ यह श्लोक विभिन्न वर्गों के कर्मों का निर्धारण करता है । इसके अनुसार ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन-अध्यापन था ; क्षत्रियों के अरर समाज तथा राज्य की रक्षा का दायित्व था ; वैश्य वर्ग व्यापार में संलग्न था तथा शुद्र शेष तीनों वर्गों की सेवा करते थे । एक अध्याय में केवल ब्राह्मणों द्वारा विभिन्न वर्गों को शाप देने की कथाएँ हैं ।⁴ यहीं पर यह भी कहा गया है कि क्षत्रिय पृथ्वी का पत्नी के समान उपभोग करते हैं ।⁵

1- मही०, 12.321.41.

2- वही, 12.324.32.

3- ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो विपुललाभः स्याच्छुद्रः सुखमाप्नुयात् ॥ मही०, 12.327.104.

4- वही, 12.329.

5- वही, 12.329.50.

याजनकर्म का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है। उन्हें अग्निस्वस्थ कहा गया है। द्विजाति होने पर भी क्षत्रिय एवं वैश्य यज्ञ में होतृकर्म का सम्पादन नहीं कर सकते।¹ जिस राज्य में ब्राह्मणों का उचित सम्मान नहीं होता, वह प्रीहीन हो जाता है।² वेदों को प्रामाणिक माने हुए यहाँ ब्राह्मणों को नारायण के मुख से उत्पन्न बताया गया है तथा ब्राह्मणों से शेष तीनों वर्ण उत्पन्न हुए हैं।³ यही ब्राह्मणों का माहात्म्य है। ऋग्वेद में स्थिति भिन्न थी। यहाँ वर्ण विभाजन स्वतन्त्र एवं क्रियात्मक था। यहाँ चारों वर्णों को पुरुष से उत्पन्न बताया गया है।⁴ इसीलिए जन्म-सम्बन्धी ऊँचनीच का भेद नहीं था। जन्म के लिए कोई वर्ण किसी दूसरे वर्ण पर आश्रित नहीं था। परन्तु नारायणीयसु में ब्राह्मणों को ईश्वर से उत्पन्न बताकर उन्हें प्रधान स्थि-
 कर दिया गया है। शेष तीनों वर्णों को अपने जन्म के लिए ब्राह्मणों पर आश्रित होना पड़ता है। यह ऋग्वैदिक वर्णव्यवस्था में आया एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था जो समाज में ब्राह्मणों की उच्चतम स्थिति की ओर संकेत कर रहा है। इससे ब्र सामाजिक व्यवस्था पर ब्राह्मणों का वर्चस्व भी ज्ञात होता है। एक स्थान पर तो नारायण को ही ब्राह्मण कहा गया है।⁵ भगवान् ब्राह्मणप्रिय⁶ तथा द्विजप्रिय⁷ भी कहे गए हैं। * ब्राह्मण को ब्रह्म के द्यशिरापतार के माहात्म्य का प्रवण करना चाहिए।⁸ इस कथन से स्पष्ट है कि ब्राह्मण से अपेक्षा की जाती थी कि वह गूढ़ दार्शनिक तथ्यों से अभिज्ञ हो। यह ब्राह्मणों की उच्च शिक्षा का निर्देशक है।

सामाजिक शिष्टाचार :-

नारायणीयसु सामान्य शिष्टाचारों का भी निर्देश करता है।

- 1- महTO, 12.329.7.
- 2- नैषामुखा वयसौ नोत वाहा न गति मयसौ सम्पदाने ।
अध्वस्ता दत्तुभूता भवन्ति येषां राष्ट्रं ब्राह्मणा वृत्तिहीनाः ॥वही 12.329.12
- 3- वही, 12.329.13.
- 4- ऋO, 10.90
- 5- महTO, 12.325.163.
- 6- वही, 12.325.164.
- 7- प्रियभक्तो हि भगवान् परमात्मा द्विजप्रियः ।वही, 12.331.42
- 8- वही, 12.335.70 .

नारद जब बदरिकाश्रम में भैरव एवं नारायण के आश्रम में पहुँचे, तब दोनों ऋषि अपने दैव तथा पितृकर्म में संलग्न थे। नारद की अभ्यर्चना उन्होंने शास्त्रोक्त विधि से की।¹ इस अभ्यर्चना का विधिबद्ध उल्लेख यहाँ नहीं प्राप्त होता। परन्तु जब श्वेतद्वीप से नारद पुनः बदरिकाश्रम पहुँचे तब दोनों ऋषियों ने अपनी पूर्वाह्निक क्रिया समाप्त करने के पश्चात् ज्ञान्तमना होकर पाप और ऋण से नारद की पूजा की। नारद का आतिथ्य तथा अपना नित्यकर्म करने के पश्चात् उन्होंने आसन ग्रहण किया।² इससे स्पष्ट है कि अतिथियों का सत्कार शास्त्रीय विधि से किया जाता था। इस प्रकार अतिथि का सत्कार करने के लिए उसे जो उपहार प्रदान किया जाता था वह ऋण कहलाता था। जिस जल से आगन्तुक के पाँव धोए जाते थे उसे पाप कहते थे। प्राचीन काल में सर्वप्रथम पैर धोकर अतिथियों को ऋण प्रदान किया जाता था तत्पश्चात् उन्हें आसन दिया जाता था। इसके बाद गृहस्थ स्वयं आसन ग्रहण करता था। इसी लिए दैनिक पंचयज्ञों में अतिथि-सत्कार को भी स्थान मिला है।³ यदि अतिथि कोई गृहस्थ व्यक्ति होता था तो अतिथि भी उसके प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करते थे। इसी लिए कुशासन ग्रहण करने से पूर्व नारद दोनों ऋषियों की प्रदक्षिणा करते हैं।⁴ यह ऋषियों के प्रति सम्मान तथा सामान्य शिष्टाचार का सूचक है।

एक अन्य अध्याय में शिव तथा ब्रह्मा के माध्यम से पिता-पुत्र के परस्पर व्यवहार का ज्ञान होता है। शिव दीर्घकाल तक अध्ययन एवं तपस्या के पश्चात् पिता ब्रह्मा के समीप आए। ब्रह्मा ने प्रसन्नता से उनकी कुशलता का समाचार पूछा। पुत्र के अध्ययनरत तथा उग्रतपस्वी होने के कारण उसके मंगल के लिए उनकी चिन्ता स्पष्ट है। एक सामान्य गृहस्थ पिता के समान पुत्र शिव के सुखद आगमन पर ब्रह्मा प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।⁵ इस वार्तालाप से स्पष्ट है कि गुरुजनों एवं पित्रजनों का अभिवादन वरणस्पर्श करके किया जाता था। वरण स्पर्श करते हुए व्यक्ति को वामहस्त से स्पर्श किया जाता था।

1- महाO, 12. 329. 21.

2- वही, 12. 321. 31-32.

3- नृसिंहोद्घातिथिभूजनसु । मनुस्मृति, 3. 70-72.

4- महाO, 12. 331. 30.

5- वही, 12. 338. 11-16.

ग्रन्थ-सूची

=====

1. यजुर्वेद तथा सामवेद संहितार्थे
।वैदिक वाङ्मय का विवेचनात्मक
पृष्ठ इतिहास - द्वितीय खण्ड ।
कुन्दन लाल शर्मा,
प्रकाशक - विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध
- संस्थान,
ता.पु. आश्रम, होशियारपुर, पंजाब।
प्रथम संस्करण - 1985 .
2. हिमालय दर्शन
कृष्ण नारायण गीताजी,
प्रथम संस्करण - 1963.
रामलालपुरी सेनालक,
आश्विनाराम एण्ड सन्स,
कश्मीरी गेट, दिल्ली - 6.
3. शुक्ल यजुर्वेद संहिता
जगदीश लाल शास्त्री,
प्रकाशक - मौतीलाल बनारसीदास ।
प्रथम सं० - 1971.
4. कृष्ण यजुर्वेद - तैत्तिरीय संहिता
।भट्ट - भास्कर - सायण भाष्य
के साथ ।
सम्पादक - नारायण शर्मा सोनटक्के,
- निविक्रम शर्मा धर्माधिकारी.
प्रकाशक - एतद्वरगो सोनटक्के एवं
- टी.ए. एम. धर्माधिकारी,
वैदिक संशोधन मण्डल, पूना-9.
प्रथम सं० - 1972.
5. भागवत सम्प्रदाय
। भारतवर्ष के मुख्य वैष्णव
सम्प्रदायों का एक गम्भीर
अध्ययन ।
बलदेव उपाध्याय,
प्रकाशक - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
प्र० सं० - संवत् 2010 वि०, 1953.
6. शैलम्
डा० यदुवंशी,
प्रकाशक - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,
- सम्मेलन भवन, पटना- 3.
प्र० सं० - 1955.

7. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति
। प्रारम्भ से गुप्तयुग वर्यन्त ।
डा० राजकिशोर सिंह एवं
डा० श्रीमती। उषा यादव ।
तृतीय संस्करण- 1975.
विनीत पुस्तक मन्दिर, रागिय राध्व मार्ग,
आगरा - 2.
8. भारतीय दर्शन
राधाकृष्णन्,
वासुदेव कृष्ण ।
9. वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक म्ना
रामकृष्ण गोपाल भंडारकर,
अनु० - मधेश्वरी प्रसाद ।
भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी,
५० सं० - अगस्त ०।१६७ ।
भारतीय विद्या प्रकाशन, पोस्ट वाक्ता - 108,
कयीड़ीमनी, वाराणसी ।
10. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य
अथवा कर्मयोग शास्त्र
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक,
अनु० - श्रीमान् मधेश्वररायजी त्प्रे ।
॥ चौं संस्करण - 1959.
जयन्त श्रीधर तिलक,
568 नारायण पेठ, लोकमान्य तिलक मन्दिर,
। गायकवाडबाडा । पुना - 2.
11. भारत - सावित्री
वासुदेवशरण अग्रवाल,
तत्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली,
तत्तासाहित्य प्रकाशन ।
प्रथम सं० - 1968 .
12. ऐतिहासिक स्थानावली
विजयेन्द्र कुमार माथुर,
प्रथम सं० - 1969,
शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार ।
13. भागवत धर्म । दूसरा खण्ड ।
हरिभाऊ उपाध्याय,
तत्ता साहित्य मण्डल, नईदिल्ली ।
प्रथम संस्करण - 1970.

BIBLIOGRAPHY

1. THE MAHABHARATA:
A CRITICISM.
C.V.Vaidya,
Meher Chand Iachhman Das,
Bharata Bharati Press,
1 Ansari Road, Daryaganj,
Delhi-6 (India).
2. HISTORY OF INDIAN
LITERATURE, (VOL. I)
Maurice Winternitz,
Translator- V.Srinivasa Sharma,
1st.Ed.-1981, Delhi,
Motilal Banarsidas,
41 A, Bunglaw Road, Delhi, 110007.
3. THE AGE OF IMPERIAL
UNITY.
(THE History & Culture
of the Indian People).
General Editor:-R.C.Mazumdar,
Nov., 1951.
Publisher:- Prof. Jayant Krishna
H. Dave,
Hon. Registrar &
Asstt. Director,
Bombay,
Bhartiya Vidya
Bhawan.
4. THE CLASSICAL AGE
(The History & Culture
of the Indian People).
Gen. Editor:-R.C.Mazumdar,
Publisher:- S.Ramkrishna,
Registrar,
Bhartiya Vidya
Bhawan, Cheupaty
Road, Bombay-7.
Jun. 1954.
5. A HISTORY OF INDIAN
PHILOSOPHY (VOL. II)
S.N.Dasgupta,
1st.Ed.(India)-Delhi, 1975.
Motilal Banarsidass,
Bunglow Road, Jawahar Nagar,
Delhi-7.
6. A HISTORY OF INDIAN
PHILOSOPHY (VOL. 3)
S.N.Dasgupta,
Published by the Syndics of
the Cambridge University
Press, Bently House,
200 Euston Road, London, NW1.
1st. Published -1940.
Reprinted 1952, 1961, 1968, 1975.

7. A HISTORY OF INDIAN
PHILOSOPHY (VOL. 5) S.N.Dasgupta,
The syndics of the Cambridge
University Press, London.
Office- Bentley House, N.W.-I.
Year - 1955.

8. AN INDEX TO THE NAMES
IN THE MAHABHARATA. S. SORENSEN,
1st. Ed.-1904.
Reprinted- Delhi 1963, 1978.
Motilal Banarsidas,
Bungalow Road, Jawaharnagar,
Delhi -7.

9. THE MAHABHARATA
' SANTIPARVAT ' Critical Editor-Vishnu S.
Sukthankar,
(Aug., 1925-Jan., 1943).
S.K. Belvalkar (Since April, 1943)
Poona, Bhandarkar Oriental
Research Institute, 1951.